धर्मशिक्षा

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः

पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी

प्रकाशक
रामनारायण लाल
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद

बारहवीं आवृत्ति] १९५६ [मूल्य २।)

निवेदन

यह समय हमारे देश के लिये क्रान्ति का युग है। इसलिए जनता की शिक्षा मे भी उत्क्रान्ति हो रही है। हमारे देश के विचारशील पुरुष पश्चिमी शिक्षाप्रणाली की त्रुटियों का अब भली भॉति अनुभव करने लगे हैं। इस शिक्षाप्रणाली मे सबसे बड़ी त्रुटि यही दिखलाई पड़ती है कि विद्यार्थियो को धार्मिक और नैतिक शिक्षा बिलकुल नहीं दी जाती। इसका फल यह होता है कि विद्यार्थियों के भावी जीवन मे सदाचार और नीति का विकास कुछ भी नहीं होता। प्रत्येक मनुष्य को उत्तम नागरिक बनने के लिये धर्मनीति की शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिये यह। बात अब सर्वमान्य हो गई है।

इसी उद्देश्य को सामने रख कर हिन्दूधर्म के विद्यार्थियों के लिए एक पुस्तक लिखने की बहुत दिन से इच्छा थी। इतने मे मेरे मित्र और प्रसिद्ध जनसेवी सरदार नर्मदाप्रसाद सिंह साहब ने इस कार्य के लिये मुझे विशेष रूप से प्रेरित किया। फलतः यह पुस्तक आज से कोई दो वर्ष पूर्व ही तैयार हो चुकी थी, परन्तु हिन्दी प्रकाशकों की अनुदारता, और मेरे पास स्वयं द्रव्य न होने के कारण यह पुस्तक अब तक अप्रकाशित पड़ी रही। अस्तु।

इस पुस्तक के तैयार करने मे मुझे हिन्दूधर्म के अनेक ग्रन्थों का अवलोकन करना पड़ा है, और प्रत्येक विषय के प्रमाणों का संग्रह करके बड़े परिश्रम से पुस्तक संकलित की गई है। जो कुछ लिखा गया है, उसमे मेरा अपना कुछ भी नहीं है, अपने पूर्वज ऋषियों, मुनियों और कवियों के वचनों का संग्रह करके निबन्धों का ग्रन्थन मात्र कर दिया है। हिन्दूधर्म बहुत व्यापक है और इस कारण उसमे मतभेद भी बहुत हैं। इस पुस्तक मे सर्वसाधारण धर्म का ही संक्षेप मे, निरूपण किया गया है। जिसको मैंने हिन्दूधर्म समझा है, और जिसमे मतभेद बहुत कम है, उसी का संग्रह किया है। फिर भी धर्मजिज्ञासु सज्जनो से मेरी प्रार्थना है कि इससे धर्म की सच्ची बात, जो उन्हे दिखलाई दे, उसी को वे ग्रहण करे, और मतभेद की बातों को मेरे लिये छोड़ दे।

विद्वान् सज्जनो से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि जो कुछ त्रुटियाँ पुस्तक मे दिखाई दे, मुझको अवश्य सूचित करे। उपयोगी सूचनाओ को ग्रहण करके अगले संस्करण मे आवश्यक संशोधन कर दिया जायगा। मेरी हार्दिक इच्छा है कि पुस्तक आर्य-हिन्दू धर्म के विद्यार्थियों के लिए पूर्ण उपयोगी हो।

अनुक्रमणिका

पहला खंड

(धर्म क्या है)

दूसरा खंड

(वर्णाश्रम-धर्म)

तीसरा खंड

(आचार-धर्म)

चौथा खंड

(दिनचर्या)

पाँचवाँ खंड

(अध्यात्मधर्म)

छठवाँ खंड

(सूक्ति-संचय)

परिशिष्ट

पहला खण्ड

धर्म क्या है

"दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः"

—मनु० अ० ६—९१

धर्मशिक्षा

—:o:—

धर्म

वैशेषिक शास्त्र के कर्त्ता कणाद मुनि ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है :—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

अर्थात् जिससे इस लोक और परलोक, दोनों में सुख मिले, वही धर्म है। इससे जान पड़ता है कि जितने भी सत्कर्म हैं जिनसे हमको सुख मिलता है, और दूसरों को भी सुख मिलता है, वे सब धर्म के अन्दर आ जाते हैं।

हम कैसे पहचाने कि यह मनुष्य धार्मिक है, इसके लिए मनु महाराज ने धर्म के दस लक्षण बतलाये हैं। वे लक्षण इस प्रकार है :—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

अर्थात् जिस मनुष्य मे धैर्य हो, क्षमा हो, जो विषयों मे फँसा न हो, जो दूसरों की वस्तु को मिट्टी के समान समझता हो, जो भीतर-बाहर से स्वच्छ हो, जो इन्द्रियों को विषयों की ओर से रोकता हो, जो विवेकशील हो, जो विद्वान् हो, जो सत्य-वादी, सत्यमानी और सत्यकारी हो, जो क्रोध न करता हो, वही पुरुष धार्मिक है। ये दस बाते यदि मनुष्य अपने अन्दर

धारण कर ले, तो वह न स्वयं दुःख पावे, न कोई उसको दुःख दे सके, और न वह किसी को दुःख दे सके।

मनुष्य इस संसार मे जो सत्कर्म करता है, जो कुछ वह धर्म-संचय करता है, वही इस लोक में उसके साथ रहता है, और उस लोक मे भी वही उसके साथ जाता है। साधारण लोगों मे कहावत भी है कि, "यह अपयश रह जायगा, और चला सब जायगा।" यह ठीक है। मनु जी ने भी यही कहा है —

मृत शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसम क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥

अर्थात् मनुष्य के मरने पर घर के लोग उसके मृत शरीर को काठ अथवा मिट्टी के ढेले की तरह श्मशान मे विसर्जन करके विमुख लौट आते है, सिर्फ उसका सत्कर्म—धर्म ही उसके साथ जाता है।

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जो लोग धर्म छोड़ देते है—अधर्म से कार्य करते है, उनकी पहले वृद्धि होती है, परन्तु वही वृद्धि उनके नाश का कारण होती है। मनु जी ने कहा है :—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततःसपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥

अर्थात् मनुष्य अधर्म से पहले बढ़ता है, उसको सुख मालूम होता है, (अन्याय से) शत्रुओं को भी जीतता है, परन्तु अन्त मे जड़ से नाश हो जाता है। इसलिए धर्म की मनुष्य को पहले रक्षा करनी चाहिये। जो मनुष्य धर्म को मारता है, धर्म भी उसको मार देता है, और जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म भी उसकी रक्षा करता है। इसलिए व्यास मुनि ने महाभारत मे कहा है कि धर्म को किसी दशा मे भी नही छोड़ना चाहिए :—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्।
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः॥
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये।
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

न तो किसी कामनावश, न किसी प्रकार के भय से और न लोभ से यहाँ तक कि जीवन के हेतु से भी—धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि धर्म नित्य है और ये सब संसारिक सुख-दुःख अनित्य हैं। जीव, जिसके साथ धर्म का सम्बन्ध है, वह भी नित्य है, और उसके हेतु जितने है वे सब अनित्य हैं। इसलिये किसी भी कारण से धर्म का त्याग नही करना चाहिए।

स्वधर्म के विषय मे भगवान् कृष्ण ने गीता मे यहाँ तक कहा है कि :—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधन श्रेयः परमोधर्मो भयावहः॥

अर्थात् अपना धर्म चाहे उतना अच्छा न हो, और दूसरे का धर्म चाहे बहुत अच्छा भी हो पर तो भी (दूसरे का धर्म स्वीकार न करे) अपने धर्म मे मर जाना अच्छा, पर दूसरे का धर्म भयानक है।

इसलिये अपने धर्म की मनुष्य को यत्न के साथ रक्षा करनी चाहिए। मनुजी ने कहा है कि—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मनो धर्मो हतोवधीत्॥

अर्थात् धर्म को यदि हम मार देगे, तो धर्म भी हमको मार देगा। यदि धर्म की हम रक्षा करेगे, तो धर्म भी हमारी रक्षा करेगा। इसलिये धर्म को मारना नहीं चाहिए। उसकी

करनी चाहिए। यदि प्राण देने की आवश्यकता हो, तो प्राण भी दे देवे, परन्तु धर्म बचाने से हटे नही। यही मनुष्य का परम कर्तव्य है। वास्तव मे मनुष्य और पशु मे यही तो भेद है कि मनुष्य को ईश्वर ने धर्म दिया है, और पशुओं को धर्माधर्म का कोई ज्ञान नही। अन्य सब बाते पशु और मनुष्य मे समान ही हैं। किसी ने ठीक कहा है :—

आहारनिद्राभयमैथुन च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो, धर्मेणहीनाः पशुभिः समानः ॥

अर्थात् आहार, निद्रा, भय, मैथुन इत्यादि सांसारिक बाते पशु और मनुष्य, दोनों मे एक ही समान होती है। एक धर्म ही मनुष्य मे विशेष होता है, और जिस मनुष्य मे धर्म नही वह पशु के तुल्य होता है।

इसलिये मनुष्य को चाहिए कि, इस लोक और परलोक की उन्नति के लिए सदैव अच्छे-अच्छे गुणो को धारण करे। कई लोग कहा करते है कि, अभी तो हमारा बहुत सा जीवन बाकी पड़ा है। जब तक बच्चे हैं खेले-कूदे, जवानी मे खूब आनन्द भोग करे, फिर जब बूढ़े होंगे, धर्म को देख लेगे। यह भावना बहुत ही भूल की है। क्योंकि जीवन का कोई ठिकाना नही है। जाने मृत्यु कब आ जावे! फिर यौवन, धन, सम्पत्ति का भी यही हाल है। ये, सदैव रहने वाली चीजे नही है। धर्म तो मनुष्य का जीवन भर का साथी है, मरने के बाद भी वही साथ देता है। इसलिए बाल अवस्था से ही धर्म का अभ्यास करना चाहिए। धर्म के लिए कोई समय निश्चित नहीं है कि, अमुक अवस्था में ही मनुष्य धर्म करे। व्यास जी ने महाभारत मे कहा है :—

न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो।
न चापि मृत्युः पुरुष प्रतीक्षते॥
सदा हि धर्मस्य क्रियैव शोभना।
सदा नरो मृत्युमुखेऽभिवर्तते॥

अर्थात् मनुष्य के धर्माचरण का कोई समय निश्चित नही है और न मृत्यु ही उसकी प्रतीक्षा करेगी। मृत्यु ऐसा नही सोचेगी कि, कुछ दिन और ठहर जाओ, जब यह मनुष्य कुछ धर्म कर ले, तब इसका ग्रास करो। इसलिए, जब कि मनुष्य एक प्रकार से सदैव ही मृत्यु के मुख मे रहता है, तब मनुष्य के लिये यही शोभा देता है कि, वह सदैव धर्म का आचरण करता रहे।

१—धृति

धृति या धैर्य धर्म का पहला लक्षण है। किसी कार्य को साहस-पूर्वक आरम्भ कर देना, और फिर उसमे चाहे जितनी आपत्तियाँ आवें, उसको निर्वाह करके पार लगाना धृति या धैर्य कहलाता है। भगवान कृष्ण ने गीता मे तीन प्रकार की धृति बतलाते हुए उसका लक्षण इस प्रकार दिया है :—

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी॥

भगवद्गीता अ० १८

हे पार्थ! योग से अटल रहनेवाली जिस धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को मनुष्य धारण करता है, वह धृति सात्विकी है।

धृति या धैर्य जिस मनुष्य मे नहीं है वह मनुष्य कोई भी कार्य संसार मे नही कर सकता। उसका मन सदा डॉवॉडोल रहता है। किसी कार्य के प्रारम्भ करने का उसे साहस ही नहीं होता। राजर्षि भर्तृहरि महाराज ने कहा है :—

आरभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै.।
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति - मध्या: ॥
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति ॥

अर्थात् जिनमे धैर्य नही है, वे विघ्नों के भय से पहले ही घबड़ा जाते हैं, और किसी कार्य के प्रारम्भ करने का उनको साहस ही नहीं होता। ऐसे पुरुष नीचे दरजे के हैं। और जो उनसे कुछ अच्छे मध्यम दर्जे के हैं, वे कार्य प्रारम्भ तो कर देते हैं, पर बीच मे विघ्न आ जाने से अधूरा ही छोड़ देते हैं। इन्ही को कहते है—प्रारम्भशूर। अब जो सबसे उत्तम धैर्यशाली पुरुष है वे विघ्नों के बार-बार आने पर भी, कार्य को अन्त तक पहुँचा देते है। बीच मे अधूरा नही छोड़ते। बल्कि बीच मे जो संकट और बाधाएँ आती है, उनसे धैर्यशाली पुरुष का उत्साह तथा तेज और भी अधिक बढ़ जाता है।

ऐसे धैर्यशाली पुरुषों को धर्म का बल होता है, वे सांसारिक निन्दा-स्तुति, हर्ष-शोक इत्यादि की परवाह नहीं करते। जो कार्य उनको न्याय और धर्म का मालूम होता है, उसमे उनके सामने कितने ही संकट आवे, उनकी वे परवाह नही करते और अपने न्याय के मार्ग पर बराबर डटे रहते हैं। भर्तृहरि जी पुनः कहते हैं :—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु ।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा ।
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

नीतिनिपुण लोग चाहे उनकी निन्दा करे, और चाहे प्रशंसा करें, लक्ष्मी चाहे आवे, और चाहे चली जायँ, आज मृत्यु हो, चाहे प्रलयकाल मे हो, जो धीर पुरुष हैं, वे न्याय के पथ से विचलित नहीं होते ।

मरना-जीना तो ऐसे आदमियों के लिए खेल होता है। वे समझते हैं कि हमारी आत्मा तो अमर है—एक चोला छोड़ कर दूसरे चोले मे जायेंगे। कृष्ण भगवान् कहते हैं :—

देहिनोऽस्मिन् तथा देहे कौमार यौवन जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
य हि न व्यथयन्त्येते पुरुष पुरुपर्षभ ।
समदुःखसुख धीर सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

भगवद्गीता

धैर्यशाली पुरुष, समझते है कि जैसे प्राणी की इस देह मे बालपन, जवानी और बुढ़ापा की अवस्था होती है, इसी प्रकार इस चोले को छोड़कर दूसरे चोले का धारण करना भी प्राणी की एक एक अवस्था-विशेष है। और ऐसा समझ कर वे मोह मे नहीं पड़ते। हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन, जो धैर्यशाली पुरुष सुख-दुःख को समान समझता है वही अमर होने का अधिकारी है।

महाभारत शांतिपर्व मे व्यासजी ने इस प्रकार के धैर्यशाली पुरुष को हिमालय पर्वत की उपमा दी है :—

न पण्डितः क्रुध्यति नाभिपद्यते न चापि संसीदति न प्रहृष्यति ।
न चापि कृच्छ्रव्यसनेषु शोचते स्थितः प्रकृत्या हिमवानिवाचलः ॥

अर्थात् ऐसा धैर्यशाली पण्डित पुरुष न तो क्रोध करता है और न इन्द्रियों के विषयों में फँसता है, न दुःखी होता है, और न हर्ष में फूलता है, चाहे जितने भारी संकट उस पर आ पड़ें, पर वह घबड़ा कर कर्त्तव्य से नहीं डिगता—हिमालय की तरह अचल रहता है। पुनश्च—

यमर्थसिद्धिः परमा न हर्षयेत्तथैव काले व्यसने न मोहयेत् ।
सुखं च दुःखं च तथैव मध्यमं निषेवते यः स धुरन्धरो नरः ॥

महाभारत शांतिपर्व

चाहे जितना धन उसको मिल जावे, वह हर्ष नहीं मानता और चाहे जितना कष्ट उस पर आ जावे, वह घबड़ाता नहीं—ऐसा धुरन्धर मनुष्य सुख-दुःख दोनों में अपने को समरस रखता है। जैसे समुद्र अपनी मर्यादा को धारण करता है, उसी प्रकार धीर पुरुष सदैव धीर-गम्भीर रहकर अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता।

जिस पुरुष में धैर्य होता है, वह ईश्वर को छोड़कर किसी से डरता नहीं। निर्भयता धैर्यशाली पुरुष का मुख्य लक्षण है। ऐसा मनुष्य, धर्म की स्थापना के लिए दुष्टों के बल को नष्ट करने में अपनी सारी शक्ति लगा देता, और सज्जनों के बल को बढ़ाता है। किसी बात की परवा न करते हुए अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहता है। एक कवि ने कहा है :—

अर्थः सुखं कीर्तिरपीह मा भूदनर्थ एवास्तु तथापि धीराः ।
निजप्रतिज्ञामधिरुह्यमाना महोद्यमाः कर्म समारभन्ते ॥

अर्थात् धन, सुख, यश इत्यादि चाहे कुछ भी न हो, और

चाहे जितनी हानि हो, परन्तु धैर्यशाली पुरुष अपनी प्रतिज्ञा पर आरूढ़ रहते हुए, सदा उत्साहपूर्वक महान् उद्योग मे लगे रहते हैं।

इसलिए धैर्य को धारण करना मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक है। चाहे जितना भारी संकट आवे, धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये। किसी कवि ने ठीक कहा है :—

त्याज्य न धैर्यं विधुरेऽपि काले धैर्यात्कदाचिद्गतिमाप्नुयात्सः।
यथा समुद्रेऽपि च पोतभंगे सायात्रिको वाञ्छति तर्तुमेव॥

अर्थात् चाहे जितना संकटकाल आवे, धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये; क्योंकि शायद धैर्य धारण करने से कोई रास्ता निकल आवे। देखो, समुद्र मे जब जहाज डूब जाता है, तब भी उसके यात्रीगण पार जाने की इच्छा रखते है, और धैर्य के कारण बहुत [illegible] मल जाते हैं कि जिनसे उनका जीवन बच जाता है।

अतएव जो मनुष्य धैर्यशाली है, उसको धन्य है। ऐसे मनुष्य बहुत थोडे होते है, और ऐसे ही लोगों से इस संसार की स्थिति है। किसी कवि ने ऐसे धीर पुरुषो की प्रशंसा करते हुए कहा है :—

सम्पदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम्।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्॥

जिनको सम्पदा मे हर्ष नही, और विपदा मे विषाद नहीं तथा रण मे निर्भय हो कर शत्रु का नाश करते, कभी पीठ नहीं दिखाते, ऐसे धीर पुरुष, तीनों लोकों के तिलक हैं। माता ऐसे सुत विरले पैदा करती है। सबको ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

२—क्षमा

मनुष्य को भीतर-बाहर से कोई दुःख उत्पन्न हो, चाहे किसी दूसरे मनुष्य के द्वारा वह दुःख उसे दिया गया हो, और चाहे उसके कर्मों के द्वारा ही उसे मिला हो, पर उस दुःख को सहन कर जाय। उसके कारण क्रोध न करे, और न किसी को हानि पहुँचावे इसी का नाम क्षमा है। दया, सहनशीलता, अक्रोध, नम्रता, अहिंसा, शान्ति इत्यादि सद्‌गुण क्षमा के साथी हैं। क्योंकि जिसमे क्षमा करने की शक्ति होगी, उसी मे ये सब बातें भी हो सकती हैं।

क्षमा का सबसे अच्छा उदाहरण धरती माता है। धरती का दूसरा नाम ही क्षमा है। धरती पर लोग मल-मूत्र करते हैं, थूकते हैं, उसको हल, फावड़ा, कुदाल इत्यादि से काटते-मारते हैं, सब प्रकार के अत्याचार प्राणी पृथ्वी पर करते हैं, परन्तु पृथ्वीमाता सब का सहन करती है। सहन ही नहीं करती, बल्कि उल्टे सबका उपकार करती है। सबको अपनी छाती पर धारण किये हुए है। नाना प्रकार के अन्न, फल-फूल, वनस्पति देकर सब प्राणिमात्र का पालन-पोषण करती है, इसीलिए उसका नाम क्षमा है।

क्षमा का गुण सब मनुष्यों मे अवश्य होना चाहिए। संसार में ऐसा भी कोई मनुष्य है, जिसने कभी किसी का अपराध न किया हो ? यदि ऐसा कोई मनुष्य हो, तो वह भले ही किसी का अपराध सहन न करे, परन्तु वास्तव मे ऐसा कौन मनुष्य है ? हमे तो संसार मे ऐसा एक भी मनुष्य दिखाई नहीं देता कि जिसने जान-बूझ कर, अथवा भूल से कभी किसी का अपराध न किया हो। ऐसी दशा मे क्षमा धारण करना प्रत्येक मनुष्य का परम कर्त्तव्य है।

मनुष्य मे यदि क्षमा न होगी, तो संसार अशान्तिमय हो जायगा। एक के अपराध पर दूसरा क्रोध करेगा, और फिर दूसरा भी उसके बदले मे क्रोध करेगा। आपस मे लड़ें-मरें और कटेंगे। संसार मे दुःख का ही राज्य हो जायगा। सब एक दूसरे के शत्रु हो जायेंगे। मित्रता के भाव का संसार से लोप हो जायगा। इसलिए मैत्री-भाव बढ़ाने के लिए क्षमा की बड़ी आवश्यकता है। क्षमा से बड़े-बड़े शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। नीति कहती है :—

क्षमाशस्त्र करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेव प्रणश्यति।

अर्थात् क्षमा का हथियार जिसके हाथ मे है, दुष्ट मनुष्य उसका क्या कर सकता है? वह तो आप ही आप शान्त हो जायगा—जैसे घासफूस से रहित पृथ्वी पर गिरी हुई आग आप ही आप शान्त हो जाती है।।

बहुत बार ऐसा भी देखा गया है कि साधुओं की क्षमा के प्रभाव से दुर्जन लोग, जो पहले उनके शत्रु थे, मित्र बन गये हैं। क्योंकि चाहे दुर्जन ही क्यों न हो, कुछ न कुछ मनुष्यता उसमे रहती है, और क्षमा करने पर फिर वह अपने अपराध पर पछताता है और लज्जित होकर कभी-कभी फिर स्वयं क्षमा मॉग कर मित्र बन जाता है। इसलिए मृदुता या क्षमा से सब काम सधते हैं। एक कवि ने कहा है :—

मृदुना दारुणं हन्ति मृदुनाहन्त्यदारुणम्।
नासाध्य मृदुना किंचित्तस्मात्तीव्रतर मृदु॥

अर्थात् कोमलता, कठोरता को मार देती है, और कोमलता को तो मारती ही है। ऐसा कोई काम नहीं, जो कोमलता से सध न

सके। इसलिए कोमलता ही बड़ी भारी कठोरता है। साधु लोग अक्रोध, अर्थात् क्षमा से ही क्रोध को जीतते हैं, और अपनी साधुता से दुर्जनों को जीत लेते हैं।

परन्तु नीति और धर्म यह भी कहता है कि, सब समय मे क्षमा भी अच्छी नहीं होती। विशेष कर क्षत्रियों के लिए तो क्षमा का व्यवहार बहुत सोच-समझकर करना चाहिए। वास्तव मे भीतर से कृपा रखकर—शत्रु के भी हित की कामना करके यदि बाहर से क्रोध दिखलाया जाय, तो उसका नाम क्रोध नहीं होता। वह तेजस्विता है और तेजस्विता भी मनुष्य का भूषण है। जिसमे तेज नहीं, वह नपुंसक या कायर है। कायरता की क्षमा कोई क्षमा नहीं। शरीर मे बल हो तो क्षमा भी शोभा देती है। अतएव व्यास जी ने महाभारत मे कहा है कि—

> काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः।
> स वै सुखमवाप्नोति लोकेऽस्मिन्परत्र च ॥

अर्थात् समय-समय के अनुसार जो मनुष्य मृदु और कठोर होता है—यानी मौका देखकर तेज भी दिखलाता है और क्षमा के मौके पर क्षमा भी करता है, वही मनुष्य इस लोक और परलोक मे सुख पाता है। बल रहते हुए प्रबल और दुष्ट शत्रु को कभी क्षमा न करना चाहिए। यह पुरुषार्थ नहीं है। व्यास जी ने क्षत्रियों का धर्म बतलाते हुए महाभारत मे कहा है कि :—

> स्ववीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयति वै परान्।
> अभीतो युध्यते शत्रून् सवै पुरुष उच्यते ॥

अर्थात् स्वयं अपने बल पर जो शत्रु को ललकारता है, और निर्भय होकर उससे युद्ध करता है वही वीर पुरुष है, और जो

दूसरों का आश्रय ढूँढ़ता है, अथवा दुम दबाकर भागता है, वह कायर है।

सारांश यह है कि क्षमा मनुष्य का परम धर्म अवश्य है, परन्तु सदैव क्षमा भी अच्छी नहीं होती, और न सदैव तेज ही अच्छा होता है। मौका देख कर, जब जैसा उचित हो, तब वैसा व्यवहार करना चाहिये। मान लीजिए, कोई हमारा उपकारी है, और सदैव हमारा उपकार करता रहता है। अब, ऐसे मनुष्य से यदि कभी कोई छोटा-मोटा अपराध भी हो जाय, तो क्षमा करना उचित है। माता, पिता, गुरु, राजा इत्यादि बड़े लोगों मे यदि क्षमा न हो, तो वे अपना कर्तव्य उचित रीति से नही बजा सकते।

छोटी-मोटी बातों पर क्रोध करके हमको अपने चित्त की शान्ति को भङ्ग नहीं कर लेना चाहिये। विवेक से काम लेना चाहिये। थोड़ी देर विचार करने पर हमको स्वयं शान्ति मिलेगी, और हमारा अपराधी कुछ विचार करेगा। बहुत सम्भव है कि, उसकी बुद्धि ठीक हो जाय, और पश्चात्ताप से वह सुधर जाय।

मनुष्य के ऊपर बहुत से ऐसे मौके आते है कि, जब उसकी क्षमा और सहनशीलता की परीक्षा होती है। कभी आस-पास के मनुष्य ही कोई मूर्खता का काम कर बैठते हैं, कभी मित्र लोग ही रूठ जाते, कभी नौकर-चाकर लोग ही आज्ञा भङ्ग करते है, कभी कोई हमारा अपमान ही कर देता है, कभी हमारे बड़े लोग ही हमको कष्ट देते हैं, कभी दुष्ट लोग निन्दा करते हैं—अब, ऐसी दशा मे, यदि हम बात-बात पर क्रोध करने लगे, और क्षमा, शान्ति और सहन-शीलता से काम न ले तो क्रोध से

हमारी ही हानि विशेष होगी। "रिस तनू जरै होय बल हानी।" इसलिए ऐसे मौकों पर क्षमा अवश्य धारण करनी चाहिए। इस प्रकार की क्षमा सदैव उपयोगी है। इसीलिए, ऋषि-मुनियों ने क्षमा की प्रशंसा की है :—

क्षमा बलमशक्ताना शक्ताना भूषणं क्षमा।
क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किन्न साध्यते ॥

अर्थात् क्षमा कमजोर के लिए तो बल है और बलवान को शोभादायक है। क्षमा से लोगों को वश मे कर सकते हैं। क्षमा से क्या नहीं सिद्ध हो सकता ?

क्षमा धर्म का एक बड़ा अंग है और उसका धारण करना हम सबका कर्तव्य है।

३—दम

मन को इन्द्रियों के वश मे न होने देने का नाम दम है। मनुष्य के अन्दर मन इन्द्रियों का राजा है। जिस तरफ मन इन्द्रियो को चलाता है, उसी तरफ इन्द्रियाँ अपने विषयो मे दौड़ती हैं। इसलिए जब तक मन का बुद्धि के द्वारा दमन नहीं किया जाय, तब तक इन्द्रियों का निग्रह नहीं हो सकता। इन्द्रियों के वश मे यदि मन हो जाता है तो इन्द्रियाँ इसको विषयों मे फँसाकर मनुष्य का सत्यानाश कर देती है। कृष्ण भगवान् गीता मे कहते है :—

इन्द्रियाणा हि चरता यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञा वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

गीता अ० २

इन्द्रियाँ विषयों की ओर दौड़ती रहती है। ऐसी दशा मे यदि मन भी इन्द्रियों के पीछे दौड़ता तो वह मनुष्य की बुद्धि को इस प्रकार नाश कर देता है, जैसे हवा नौका को पानी के अन्दर डुबा देती है। इसलिये जब कभी मन बुरी तरह से विषयों की ओर दौड़े—अपनी स्वाभाविक चंचलता को प्रकट करे, तभी उसको बुद्धि और विवेक से खींचकर उसकी जगह पर ही उसको रोक देवे। कृष्ण जी कहते है :—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

गीता, अ० ६

अर्थात् यह चंचल और अस्थिर मन जिधर-जिधर को भागे, उधर ही उधर से इसको खींच लावे, और इसको अपने वश मे रक्खे। मन की गति किधर को होती है? या तो यह विषयों के सुख की ओर दौड़ेगा अथवा किसी के प्रेम और मोह मे दौड़ेगा अथवा किसी की निन्दा-स्तुति द्वेष या किसी को हानि पहुँचाने की ओर दौड़ेगा। जो शुद्ध मन होगा, वह ईश्वर की ओर दौड़ेगा, उसी मे एकाग्र होगा। अथवा दूसरे का उपकार सोचेगा॥ इस प्रकार मनुष्य का मन अपनी बेगवान् गति से सदैव दौड़ा ही करता है। इसको यदि एक जगह लाकर ईश्वर मे लगा देवें, तो उसी का नाम योगाभ्यास है। परन्तु मन का रोकना बहुत कठिन है। इस विषय मे परम भगवद्भक्त वीरवर अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से कहा था :—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

गीता, अ० ६

हे कृष्ण यह मन बड़ा चञ्चल है। इन्द्रियो को विषयों की ओर से खींचता नही है, बल्कि और ढकेलता है। चाहे जितना विवेक से काम लो, फिर भी इसको जीतना कठिन है। विषय वासनाओं मे बड़ा दृढ़ है। इसका निग्रह करना तो ऐसा कठिन है कि जैसे हवा की गठरी बाँधना। इस पर भगवान् कृष्ण ने कहा :—

> असशय महाबाहो मनो दुर्निग्रह चलम् ।
> अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
>
> गीता, अ० ६

हे वीरवर अर्जुन इसमे सन्देह नही, यह मन अत्यन्त चञ्चल है, और इसका रोकना बहुत कठिन है, फिर भी दो उपाय ऐसे हैं, कि जिनसे यह वश मे किया जा सकता है, और वे उपाय हैं—अभ्यास और वैराग। अभ्यास—अर्थात् बार-बार और बराबर मन की हरकतों पर यदि हम ध्यान रखे, और उसको अपने वश मे लाने का प्रयत्न जारी रखे, तो ऐसा नही कि वह वश मे न हो जावे, और वैराग्य—अर्थात् संसार के जितने विषय हैं उनका उचित रूप से धर्म से सेवन करे—सेवन करे और फँसे नही। इनके पीछे पागल न हो जावे—अपनी आत्मा और संसार को हानि न पहुँचावे वल्कि अपनी आत्मा और ससार के कल्याण का ध्यान रखते हुये—इन्द्रियों और मन को वश मे रखते हुये—यदि हम संसार के कर्त्तव्यों का पालन करे, और धर्मपूर्वक विपयो का सेवन करे, तो यह भी वैराग्य ही है। इस प्रकार की चित्तवृत्ति का अभ्यास करने से मन वश मे हो जाता है, और प्रसन्नता प्राप्त होती है। यही वात कृष्ण भगवान् गीता मे कहते है :—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।

गीता, २—६४

विषयों से प्रेम और द्वेष छोड़ देता है—अर्थात् उनमे फँसता ी है, धर्मपूर्वक विषयों का सेवन करता है—जिसका मन वश मे है, इन्द्रियाँ वश मे है वह प्रसन्नता प्राप्त करता है। उसको विषयों का सुख दुःख नही मालूम होता। मन परमात्मा और धर्म मे लीन रहता है। ऐसे पुरुष को कभी क्लेश नही होता। क्लेश मे भी वह अपने मन का दमन करके सुख ही मानता है। न उसको अपने ऊपर द्वेष या क्रोध होता है, और न दूसरे के ऊपर।

दान्तः शमपरः शश्वत् परिक्लेशं न विन्दति ।
न यतप्यति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम् ।।

महाभारत, वनपर्व।

जो सदैव मन और इन्द्रियों को वश मे रख कर शान्त और दान्त रहता है, वह दुःख का अनुभव नही करता। जिसने अपने मन का दमन कर लिया है वह दूसरे के सुख को देख कर कभी जलता नही। सुखी होता है।

कई लोगों का मत है, कि मन को दबाना कभी नही चाहिए। किन्तु मन जो माँगता जावे, वही उसको देते रहना चाहिए। इस प्रकार जब मन खूब विषय-उपभोग-करके तृप्त हो जायगा, तब आप ही उसका दमन हो जायगा। परन्तु भगवान् मनु कहते है कि :—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।

मनुस्मृति, अ० २

विषयों के भोग की इच्छा विषयों के भोग से कभी शान्त नही हो सकती, किन्तु और भी बढ़ती ही जाती है—जैसे आग मे घी डालने से आग और बढ़ती है। इसलिए विवेक से मन का दमन करने से इन्द्रियां आप ही आप विषयों से खिंच आती हैं। जैसे कछुआ अपने सब अंगों को अन्दर सिकोड़ लेता है, वैसे ही इन्द्रिया अपने को विषयों से समेट करके मन के साथ आत्मा मे भीतर संलग्न हो जाती हैं। जब मनुष्य की ऐसी दशा हो जाती है तब विषयों से विरक्त मन को आत्मा मे स्थिर करके वह मोक्ष प्राप्त करता है। इसी लिए कहते हैं कि :—

मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्त मुक्तो निर्विषय मनः ॥

मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है, क्योंकि विषयों मे फँसा हुआ मन बन्धन मे है, और विषयो मे छुटा हुआ मुक्त है। ज्ञानी लोग विषयों से मन को छुडाकर इसी जन्म मे मुक्ति का अनुभव करते है।

साराश यह है कि मन की वासना, जो सदैव बुरे और भले कार्यों की ओर दौड़ा करती है, उसको बुरे मार्गों की ओर से हटाकर सदैव कल्याण मार्ग की ओर लगाते रहना चाहिये। यही मन का दमन है। महाभारत मे इसका फल इस प्रकार कहा है :—

दमस्तेजो वर्धयति पवित्र दममुत्तमम् ।
विपाप्मा वृद्धतेजास्तु पुरुषो विन्दते महत् ॥

महाभारत

मन का दमन करने से तेज बढ़ता है। यह मनोदमन का गुण मनुष्य मे परम पवित्र और उत्तम है। इससे पाप नष्ट होता है और मनुष्य तेजस्वी होकर परमात्मा को प्राप्त करता है।

४—अस्तेय

दूसरे की वस्तु अपहरण न करके, धर्म के साथ अपनी जीविका करने को अस्तेय कहते हैं। मनु महाराज ने धर्मपूर्वक धन कमाने के निम्नलिखित दस साधन बतलाये हैं।

विद्या शिल्प भृतिः सेवा गोरक्ष्य विपणिः कृषिः।
धृतिर्भैक्ष्य कुसीद च दश जीवनहेतवः॥

अर्थात् १—अध्ययन-अध्यापन का कार्य करना, २—शिल्प-विज्ञान कारीगरी, ३—किसी के घर नौकरी करना ४—किसी सस्था की सेवा करना, ५—गोरक्षा-पशुपालन, ६—देशविदेश घूमकर अथवा एक स्थान मे दूकान रखकर व्यापार करना, ७—कृषि करना, ८—सन्तोष धारण करके जो मिल जाय, उसी पर गुजारा करना, ९—भिक्षा मॉगना, १०—व्याज-साहूकारी इत्यादि ये दस बाते जीविका की हेतु हैं।

अपने अपने वर्ण-धर्म के अनुसार इन्ही व्यवसायो मे से कोई व्यवसाय मनुष्य को चुन लेना चाहिये। व्यवसाय कोई भी हो, ईमानदारी और सच्चाई के साथ करना चाहिए। दूसरे का धन बेईमानी या चोरी से अपहरण करने का प्रयत्न न करना चाहिए।

ईशावास्यमिद सर्वं यत्किंच ज जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ ईशोपनिषद्

अर्थात् यह सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत परमात्मा से व्याप्त है - ऐसी कोई वस्तु नही, जिसमे वह न हो इसलिए उससे डरो। ईमानदारी के साथ, सच्चाई से जितना मिले, उसी का भोग करो। किसी का धन अन्याय से लेने का लालच मत करो। महर्षि व्यास जी ने कहा :—

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्म वै शाश्वत लोके न जह्याद्धनकाङ्क्षया।

महाभारत, शातिपर्व

अर्थात् जो धन धर्म से पैदा किया जाता है, वही सच्चा धन है, अधर्म से पैदा किये हुए धन को धिक्कार है। धन सदैव रहने की चीज नही है, और धर्म सदैव रहता है। इसलिए धन के लिए धर्म कभी न छोड़ो।

धर्म की अवहेलना करके जो लोग चोरी, घूस अथवा व्यापार इत्यादि मे मिथ्याचार या धूर्तता का व्यवहार करके धन जोडते है उनको उस धन से सुख कदापि नही मिलता। अन्याय से बहुत-सा जोडा हुआ उनका धन दुर्व्यसनो मे खर्च होता है, इससे उनका शरीर मिट्टी हो जाता है, और ऐसे नीच धनवान् लोक परलोक दोनों बिगाडते है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने गीता मे ऐसे अधर्मों का अच्छा वर्णन किया है :—

आशापाशशतैर्बद्धा कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

गीता, अ० १६

अर्थात् सैकड़ों आशाओं की फाँसियों मे बँधे हुए, काम-क्रोध मे तत्पर विषय-सुख के लिए अन्याय से धन संचय करने की चेष्टा करते हैं। चित्त चचल होने के कारण भ्रांति मे पड़े रहते है। मोहजाल मे लिपटे रहते है। काम भोगों मे फँसे रहते हैं। ऐसे दुष्ट बडे बुरे नरक मे पड़ते है।

इसके सिवाय जो धन अधर्म से इकट्ठा किया जाता है। वह बहुत समय तक ठहरता भी नही—जैसा आता है, वैसा ही चला जाता है। चाणक्य मुनि ने कहा है कि—

अन्यायोपार्जित द्रव्य दशवर्षाणितिष्ठति ।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूल च विनश्यति ॥
चाणक्यनीति

अर्थात् अधर्म और अन्याय से जो द्रव्य उपार्जन किया जाता है वह सिर्फ दस वर्ष ठहरता है और ग्यारहवे वर्ष जड़मूल से नाश हो जाता है। चाहे चोरी हो जाय, चाहे आग लग जाय, चाहे स्वय वह अधर्मी नाना प्रकार के दुराचारों मे ही उसको खर्च कर दे, पर वह रहता नहीं, और न ऐसे धन से उसको सुख ही होता है। इसलिए अपने बाहुबल से धर्म के साथ उद्योग करते हुए जीविका के लिए धन कमाना चाहिए। उद्योगी पुरुष के लिए धन की कमी नही। राजर्षि भर्तृहरि कहते है :—

उद्योगिन पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः ।
दैव प्रधानमिति कापुरुषा वदन्ति ॥
दैव विहाय कुरु पौरुषमात्मशक्त्या ।
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥

अर्थात् जो पुरुष उद्योगी हैं, अपने बाहुबल का भरोसा करके सतत परिश्रम करते रहते हैं, उन्ही के गले मे लक्ष्मी जयमाल

पहनाती है, और जो लोग कायर आलसी है वे भाग्य का भरोसा किये बैठे रहते है। इसलिए भाग्य का भरोसा छोड़ कर शक्ति भर खूब पौरुष करो। यत्न करो। यत्न करने पर यदि सफलता प्राप्त न हो, तो फिर यत्न करो देखो कि, हमारे यत्न मे कहाँ दोष रह गया है। उस दोष को खोज निकाल कर जब निर्दोष यत्न करोगे, तब सफलता अवश्य मिलेगी। नीचे लिखे हुए गुण जिस उद्योगी मनुष्य मे होते है, उनके पास धन की कमी नही रहती।

> उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्र,
> क्रियाविधिज्ञ व्यसनेष्वसक्तम् ॥
> शूर कृतज्ञ दृढसौहृद च,
> लक्ष्मीः स्वय याति निवासहेतोः ॥

जिस पुरुष मे उत्साह भरा हुआ है, जो आगे की बात ताडकर बराबर दक्षता से उद्योग करता रहता है, कार्य करने की चतुरता जिसमे है, जो व्यसनो मे नही फँसा है, जो शूरवीर और आरोग्य-शरीर है, जो किये हुए उपकार को मानता है, जिसका हृदय दृढ़ है और दूसरे के साथ सहृदयता का वर्त्ताव करता है, ऐसे पुरुष के पास लक्ष्मी स्वयं निवास करने को आती है।

इसलिए बराबर उद्योग करते रहना चाहिए। परन्तु एक जगह बैठे रहने से भी मनुष्य धन नहीं कमा सकता। नीति मे कहा हुआ है :—

> विद्या वित्त शिल्प तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक्।
> यावद्व्रजति न भूमौ देशाद्देशान्तर हृष्टः ॥

अर्थात् विद्या, द्रव्य कलाकौशल इत्यादि जीविका-सम्बन्धी बाते

मनुष्य को तब तक भली भाँति नही प्राप्त हो सकतीं, जब तक कि वह पृथ्वी पर्यटन न करे, और आनन्दपूर्वक देशदेशान्तर का भ्रमण न करे। जापान, अमेरिका, जर्मनी, इङ्गलैण्ड इत्यादि जितने उन्नत देश है, उनके होनहार नवयुवक विद्यार्थी जब एक दूसरे के देशों मे जाकर शिल्प कलाकौशल, विज्ञान, कृपि इत्यादि की विद्या सीखकर आये है। तब उन्होंने अपने देश को उन्नत किया है, और स्वयं भी उन्नत हुए है। हमारे देश के नवयुवक और व्यवसायी लोग कूप-मंडूक की तरह इसी देश मे पड़े रहते है, और विदेशियों की दलाली करने मे ही अपने व्यवसाय की इतिश्री समझते हैं। इसी से हमारे देश का सारा व्यवसाय विदेशियों के हाथ मे चला गया है, और हम दिन पर दिन दरिद्र हो रहे है। इसलिये हमारे धनवान् नवयुयकों को उचित है, कि वे उपर्युक्त उन्नत देशों मे जाकर व्यापार-व्यवसाय का तरीका सीखे, और फिर अपने देश मे आकर स्वदेशी व्यापार और कल-कारखाने चलावे जिससे देश की सम्पत्ति देश मे ही रहे, और हमारे देश के श्रमी लोगों को मिहनत-मजदूरी तथा उद्योग-धंधा मिले।

धन की मनुष्य के लिये बडी आवश्यकता है। बिना धन कमाये न स्वार्थ होता है, और न परमार्थ। आजकल तो धन की इतनी महिमा है कि भर्तृहरि महाराज के शब्दों मे यही कहना पड़ता है कि:—

यस्यास्ति वित्त स नरः कुलीनः।
स पडित. स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः।
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥

जिसके पास धन है वही मनुष्य कुलीन है, वही पंडित है, वही अनुभवी है, वही गुणज्ञ है, वही वक्ता है, वही दर्शनीय, सुन्दर है सब गुण एक कांचन में ही बसते है और जिसके पास धन नही है :—

माता निन्दति नाभिनन्दति पिता भ्राता न सम्भाषते ।
भृत्यः कुप्यति नानुगच्छति सुत. कान्ता च नालिंगते ।
अर्थप्रार्थनशङ्कया न कुरुते सम्भाषण वै सुहृत् ।
तस्माद् द्रव्यमुपार्जय शृणु सखे द्रव्येण सर्वे वशाः ॥

उसको माता गालियाँ दिया करती है, पिता उसको देखकर प्रसन्न नही होता, भाई लोग बात नही करते और नौकर लोग अलग ही मुँह बनाये रहते हैं, लडके उसका कहना नहीं मानते स्त्री अलग कटी रहती है, मित्र लोग यदि मार्ग मे सामने पड जाते है तो इस शका से मुँह फेर लेते है कि कही कुछ मांग न बैठे— सीधे बात नही करते। इसलिये मित्रो! सुनो, धन कमाओ। क्योंकि धन के ही वश मं सब है।

धन कमाओ तो सही, पर उसका उपयोग भी जानो। क्योंकि यदि कमाया और उसकी उचित विनियोग न किया तो व्यर्थ है। संसार मे प्रायः वहुत लोग ऐसे ही है, कि जो धन कमाकर या तो उसे संचित ही रखते है, अथवा फिजूलखर्ची में उडा देते है। दोनो बातें खराब है। धन को मौका देखकर न्यूनाधिक खर्च करना चाहिए। नीति मे कहा है :—

य. काकिनीमप्यपथप्रपन्ना
समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम ॥
कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्तः ।
त राजसिंह न जहाति लक्ष्मीः ॥

अर्थात् बुरे रास्ते मे यदि एक कौड़ी भी जाती हो तो उसे हजार मुहरों की तरह बचा लो, और मौका लगने पर—किसी अच्छे काम में करोड़ों अशर्फियाँ भी मुक्तहस्त होकर खर्च कर लो। जो उद्योगी पुरुष ऐसा करता है—अर्थात् धर्म से कमाया हुआ धन धर्म ही मे खर्च करता है, उसको लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती। परन्तु जो मनुष्य अपनी आमदनी का ख्याल न करके व्यर्थ मे वहुत सा धन खर्च किया करते है वे सदैव दुखी रहते है। क्योंकि—

क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया।
परिक्षीयत एवासो धनी वैश्रवणोपमः॥

आमदनी का विचार न करके यदि स्वच्छन्दतापूर्वक खर्च करते रहे, तो कुवेर के समान धनी भी दरिद्र बन जायेंगे।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि, अपने अनुकूल उचित जीविका को ग्रहण करके, अपने पुरुषार्थ और वाहुबल से, धर्म के साथ, धन कमावे, पर स्त्री और परधन को हरण करने की कभी इच्छा न करे।

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पडितः॥

जो दूसरे की स्त्री को माता तुल्य और दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले के तुल्य देखता है और सब प्राणियो का दुःख सुख अपने ही दुःख सुख के समान देखता है वही सच्चा विवेकी पुरुष है।

५—शौच

शौच का अर्थ है शुद्धता। शुद्धता दो प्रकार की है। एक बाहर की शुद्धता। दूसरी भीतर की शुद्धता। बाहर की शुद्धता मे शरीर, वस्त्र, स्थान इत्यादि की शुद्धता आती है, और भीतर की शुद्धता मे मन या आत्मा की शुद्धता आती है। मनु महाराज ने एक श्लोक मे बाहरी भीतरी शुद्धता के साधन, थोड़े मे बहुत अच्छी तरह बतला दिये है। वह श्लोक इस प्रकार है:—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्या भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन ॥

अर्थात् शरीर, वस्त्र, स्थान इत्यादि बाहरी चीजे पानी-मिट्टी (या साबुन, गोबर) इत्यादि से शुद्ध हो जाती है। मन सत्य से शुद्ध होता है। विद्या और तप से आत्मा शुद्ध होती है, और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।

मनुष्य को चाहिए कि वह नित्य कुल्ला-दातून करके मुख को और शुद्ध ठडे जल से स्नान करके अपने सब अंगो को साफ रखे। शरीर की मलीनता से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते है। साफ कपड़ा पहिनना चाहिये। मोटे कपडे से शरीर की सब ऋतुओं मे रक्षा होती है। जहाँ तक हो सके कम वस्त्र पहनो और बिना रंग का ही कपड़ा पहनो। सफेद रग का कपडा पहनने से मैला होने पर, वह तुरन्त ही मालूम हो जाता है और उसे साफ करके धो सकते है, पर रंगीन कपड़ा जिसको "मैलखोरा" कहते है, कभी मत पहनो। कई लोग कपड़ा मैला न हो इसी कारण रंगीन पहनते है पर यह

चाल अच्छी नही। रगीन कपड़े मे मैल खपता रहता है, और वही शरीर के लिये हानिकारक होता है।

शरीर और वस्त्रों की सफाई इस विचार से न रखो कि तुम देखने मे सुन्दर लगो, पर इस विचार से रखो कि, तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा रहे, और तुम्हारा चित्त प्रफुल्लित रहे। क्योंकि शरीर और कपड़े साफ रहने से दूसरे पर चाहे जो असर पड़ता हो, अपने चित्त को ही प्रसन्नता होती है। मन मे उत्साह बढ़ता है, जिससे मनुष्य के सत्कार्यों मे उसको सफलता मिलती है।

यही बात स्थान की सफाई के विषय मे भी कही जा सकती है। जगह चाहे थोड़ी हो, लेकिन साफ सुथरी और हवादार हो। अपने अपने स्थान की चीजे ठीक तौर से, जहाँ की तहाँ सफाई के साथ, रखी हुई हों। इस बाहर की सफाई का शरीर की आरोग्यता और चित्त की प्रसन्नता पर बड़ा अच्छा असर पड़ता है और ये दो बाते ऐसी है कि जिनका मनुष्य के धर्म से बड़ा गहरा सम्बन्ध है।

एक सफाई की मनुष्य को ध्यान रखना चाहिये, और वह सफाई है—पेट के अन्दर की मलशुद्धि। प्रायः देखा जाता है कि, लोग अपने बालकों को प्रातःकाल शौच जाने की आदत नही डलवाते। लड़के उठते ही खाने को मांगते है, और मूर्ख माताएँ, बिना शौच और मुख-मार्जन के ही, लाड़-प्यार के कारण उनको कलेऊ खाने दे देती है। पेट का मल साफ न होने के कारण रक्त दूषित हो जाता है, और शरीर रोग का घर बन जाता है। इसलिये प्रातःकाल शौच जाने की आदत जरूर डालनी चाहिये, और इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जो कुछ भोजन किया जाता है, वह पचकर उसका मल रोज का रोज नियमानुसार निकलता रहता है या नहीं।

ये तो ऊपरी शौच की बातें हुईं। अब हम भीतरी शुद्धता के विषय में कुछ लिखेंगे। वास्तव में भीतरी शुद्धता पर ही मनुष्य का जीवन बहुत कुछ अवलम्बित है, क्योंकि उसका सम्बन्ध मन बुद्धि और आत्मा की पवित्रता से है। जब तक मनुष्य का मन बुद्धि आत्मा पवित्र नहीं है, तब तक बाहरी शुद्धि का सम्बन्ध तो विशेष कर शरीर से ही है, और शरीर भी केवल बाहरी शुद्धि से उतना लाभ नहीं उठा सकता जब तक मन, बुद्धि और आत्मा पवित्र न हो।

मन की शुद्धि का साधन महर्षि मनु ने 'सत्य' बतलाया है। जो मनुष्य सत्य ही बात मन में सोचता है, सत्य ही बात मुख से निकालता है, और सत्य ही कार्य करता है, उसका मन शुद्ध रहता है। वास्तव में मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है। क्योंकि श्रुति में कहा है कि—

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति ।
यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति ।
यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते ॥

अर्थात् मनुष्य जिस बात का मन से ध्यान करता है, उसी को वाचा से कहता है और जिसको वाचा से कहता है, वही कर्म से करता है, और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल मिलता है। इसलिये सत्य का ही ध्यान करना चाहिये, जिससे मन, वचन और कर्म पवित्र हो।

जैसे मनुष्य का मन सत्य से शुद्ध होता है, वैसे ही उसकी आत्मा विद्या और तप से शुद्ध होती है। आत्मा कहते हैं जीव को जब मनुष्य विद्या का अध्ययन करता है, और तप करता है

अर्थात् सत्कर्मों के लिये कष्ट सहता है तब उसका जीव या आत्मा पवित्र हो जाती है। उसके सब संशय दूर हो जाते हैं।

आत्मा की शुद्धि के साथ बुद्धि भी शुद्ध होनी चाहिये। बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है। क्योंकि ज्ञान के समान इस संसार मे और कोई वस्तु पवित्र नही है। गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञान की महिमा वर्णन करते हुये कहा है :—

श्रद्धावान् लभते ज्ञान तत्परः सयतेन्द्रियः।
ज्ञानलब्ध्वा परा शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

गीता

अर्थात् ज्ञान (जीव सृष्टि और परमात्मा का ज्ञान) उसी को प्राप्त होता है, जो श्रद्धावान् होता है, ज्ञान मे मन लगाता है, और इन्द्रियों का संयम करता है। और जहाँ एक बार मनुष्य ने ज्ञान प्राप्त कर लिया, कि फिर वह परम शान्ति को पाता है। परम शान्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य की बुद्धि पवित्र होकर स्थिर हो जाती है। उस दशा मे कोई बुरी बात मनुष्य के मन में आती ही नही। जो कार्य उसके द्वारा होते है, सब संसार के लिये हितकारी होते है।

जैसा कि हमने ऊपर बतलाया, मनुष्य का अपना शरीर मन आत्मा, बुद्धि इत्यादि पवित्र रखते हुये भीतर बाहर शुद्ध रहने का बराबर प्रयत्न करते रहना चाहिये। शुभ गुणों की वृद्धि और अशुभ गुणों का त्याग करने से मनुष्य भीतर बाहर शुद्ध हो जाता है और लोक परलोक दोनों मे उसको सुख मिलता है।

६—इन्द्रिय-निग्रह

मनुष्य के शरीर मे परमात्मा ने दस इन्द्रियाँ दी है। पाँच

ज्ञानेन्द्रियाँ है, और पाँच कर्मेन्द्रियाँ । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ये हैं। (१) आँख, (२) कान, (३) नाक, (४) रसना, अर्थात् जिह्वा, (५) त्वचा, अर्थात् खाल। इन पाँचों इन्द्रियों से हम विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे आँख से भला-बुरा रूप देखना, कान से कोमल कठोर शब्द सुनना, नाक से सुगन्ध दुर्गन्ध सूंघना, रसना से स्वाद चखना, त्वचा से कठोर अथवा मुलायम चीज का स्पर्श करना। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का एक एक सहायक देवता भी है उसी देवता से उस इन्द्रिय के विषय की उत्पत्ति होती है। जैसे आँख का विषय रूप है, यह अग्नि अथवा सूर्य का गुण है। सूर्य या अग्नि यदि न हो, तो हमारी आँख इन्द्रिय बिलकुल बेकाम है। इसी प्रकार कान का विषय शब्द है। यह आकाश का गुण है। आकाश ही के कारण शब्द उठता है। नाक का विषय गन्ध है। गन्ध पृथ्वी का गुण है। जीभ का विषय रस है, जो जल का गुण है, और त्वचा का विषय स्पर्श है। यह वायु का गुण है। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों और उनके विषय प्रधान है। अब पाँच कर्मेन्द्रियों को लीजिए :—

(१) वाणी, (२) हाथ, (३) पैर, (४) लिंग, और (५) गुदा। वाणी से हम बोलते हैं। यह भी जिह्वा ही है। जिह्वा मे परमात्मा ने ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनो की शक्ति दी है। स्वाद भी चखते है, और बोलते भी हैं। हाथ से कार्य करते है पैर से चलते हैं। लिंग से मूत्र छोड़ते है, और गुदा से मल निकालते हैं।

ज्ञान-इन्द्रियाँ ईश्वर ने हमारे शरीर मे ऊपर की ओर बनाई है और कर्मेन्द्रियाँ नीचे की ओर-- इससे ईश्वर ने ज्ञान को प्रधानता दी है, और हमको बतलाया है कि, ज्ञान के अनुसार ही कर्म करो। अस्तु । हमारी आत्मा मन को संचालित

करक इन्द्रियों के द्वारा सब विषयो का भोग भोगती है। उपनिषदो मे इसका बहुत ही अच्छा रूपक बाँधा गया है।

> आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
> बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
> इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
> आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
>
> कठोपनिषद्

यह शरीर एक रथ है, जिसका रथी, अर्थात् इस पर आरूढ़ होनेवाला, इसका स्वामी, जीवात्मा है। जीवात्मा इस शरीर रूपी रथ पर बैठ कर मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है। अब रथ मे घोड़े चाहिए। सो दसो इन्द्रियाँ इस रथ के घोड़े हैं। अब घोड़ों मे बागडोर चाहिये, सो मन ही इन घोड़ों की बागडोर है। रथ हो गया, रथी हो गया, घोड़े हो गये, घोड़ों की बागडोर हो गई, अब उस बागडोर को पकड़ कर घोड़ों को अपने वश मे रखते हुये रथ को ठीक स्थान मे, परमात्मा या मुक्ति की ओर ले जाने वाला सारथी चाहिये। यह सारथी बुद्धि या विवेक है। अब इन्द्रिय रूपी घोड़ों के चलने का मार्ग चाहिए। यह मार्ग इन्द्रियों के विषय हैं, क्योंकि विषयों की ही ओर इन्द्रियाँ दौड़ती हैं। इसलिए जो ज्ञानी पुरुष है, वे बुद्धि या विवेक के द्वारा इन्द्रियों की बागडोर मन को बड़ी दृढ़ता से अपने हाथ मे पकड़ कर, उनको उनके विषयों के रास्ते मे इस ढङ्ग से ले चलते है, कि जिससे वे सुखपूर्वक ईश्वर के समीप पहुँच कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

इन्द्रिय-निग्रह का सिर्फ इतना ही मतलब है कि, इन्द्रियाँ बुरी तरह से अपने-अपने विषयों की ओर न भगने पावे। जितनी जिस विषय की आवश्यकता है, उतना ही उस विषय को

ग्रहण करे। विषयों मे बुरी तरह से फॅस कर—बेतहाशा विषयों के मार्ग मे भगकर इस शरीर रूपी रथ को तोड-फोड कर नष्ट न कर डाले। यदि इन्द्रियॉ इस प्रकार कुमार्गो पर भगेगी, तो रथ सारथी, बागडोर इत्यादि सब नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगे। इसलिए बुद्धि या विवेक रूपी सारथी को सदैव सचेत रखो। वही इन इन्द्रियरूपी दसों घोड़ो का निग्रह कर सकता है।

कई लोग इन्द्रिय-निग्रह का उपर्युक्त सच्चा अर्थ न समझ कर इन्द्रियों को ही मारने की कोशिश करते है। परन्तु इन्द्रियों का तो स्वभाव ही है कि वे अपने-अपने विषयो की ओर दौड़ती है। जब तक इस शरीर मे आत्मा, मन और इन्द्रियाँ है, तब तक विषय उनसे छूट नही सकते। खाली निग्रह कुछ काम नहीं कर सकता। जो केवल निग्रह से ही काम लेना चाहते हैं—विवेक या बुद्धि को उसके साथ नही रखते है, उनका मन विपयो से नही छूटता है। मन तो उनका विषयो की ओर दौड़ता ही है, परन्तु केवल इन्द्रियो को वे दबाना चाहते है। ऐसे लोगों को भगवान् कृष्ण ने गीता मे पाखण्डी बतलाया है :—

कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

जो मूर्ख ऊपर से कर्मेन्द्रियों का संयम करके मन से दिन रात विपयो का चिन्तन किया करता है, वह पाखण्डी है। इस लिये विवेक से मन का ही दमन करना चाहिए। ऐसा करने से इन्द्रियॉ विपयों मे नही फॅसती। भगवान् मनु ने स्पष्ट कहा है :—

वशे कृत्वेन्द्रियग्राम सयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् ससाधयेदर्थानाक्षिण्वन् योगस्तनुम् ॥

मनु०

अर्थात् पॉच ज्ञानेन्द्रिय और पॉच कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवे मन को भी वश मे करके इस प्रकार से युक्ति के साथ धर्म-अर्थ काम-मोक्ष का साधन करे कि जिससे शरीर क्षीण न होने पावे । व्यर्थ मे शरीर को कष्ट देने से इन्द्रियो का निग्रह नही हो सकता। बल्कि विवेक के साथ युक्ताहारविहार को ही इन्द्रिय-निग्रह कहते है । इन्द्रियों के जितने विषय हैं, उनका सेवन करने से कोई हानि नही है, परन्तु धर्म की मर्यादा से बाहर नहीं जाना चाहिए। यदि मनुष्य विषयों मे फॅस जायगा तो जरूर धर्म की मर्यादा से बाहर हो जावेगा, और अपना लोक-परलोक बिगाड़ेगा । ऐसे ही लोगों के लिये महाभारत मे कहा है :—

शिश्नोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विषयं बहु ।
मोहरागबलाक्रान्त इन्द्रियार्थवशानुगः ॥

महाभारत, वनपर्व

मूर्ख आदमी मोह और प्रेम मे आकर, इन्द्रियों के विषयों के अधीन होकर, शिश्न और उदर के लिए, मिथ्या आहार और विहार करते हैं । अनेक प्रयत्न करके सुन्दर भोजन और स्त्री-विषय का सेवन करके नष्ट होते है । प्राणी की प्रत्येक इन्द्रिय का विषय इतना प्रबल है कि अकेला ही उसको नाश करने के लिए पर्याप्त है । फिर यदि पॉचों विषय अपना-अपना काम इन्द्रियों पर करने लगे तो फिर मनुष्य के नष्ट होने मे क्या सन्देह ? किसी कवि ने कहा :—

कुरग-मातग-पतग-भृ गाः ।
मीना हताः पंचभिरेव पंच ॥
एकः प्रमादी स कथ न हन्यते ।
यः सेवते पचभिरेव पच ॥

अर्थात् हरिन व्याधी की बॉसुरी की सुन्दर तान सुनकर मारा जाता है, हाथी मृदुल घास से पूरे हुए गड्डे मे लेटकर स्पर्शसुख का अनुभव करने मे नीचे धॅस जाता है, पतिंगा दीपक का सुन्दर रूप देखकर जल मरता है, भौरा रस के लोभ मे आकर कंटकों से विद्ध होकर अपने प्राण देता है मछली वंशी मे लगे हुए मांस के टुकडे की गन्ध पाकर उसकी ओर आकर्षित होती है, और वंशी को निगलकर अपने प्राण देती है। ये प्राणी एक ही एक इन्द्रिय विषय मे फॅस कर नष्ट होते हैं, फिर मनुष्य, जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, इन पॉचों विषयों का दास हो जाय, तो वह क्यों नही नष्ट होगा ?

इसलिये मनुष्य को इन विपयों का दास नहीं होना चाहिए। बल्कि विषयों को अपना दास बनाकर रखना चाहिए। जो पुरुष जितेन्द्रिय होते हैं, वे विषयों का, उचित मात्रा मे, और धर्म की मर्यादा रखते हुए सेवन करते है, और प्रिय अथवा अप्रिय विपय पाकर मन मे हर्ष-शोक नही मानते। मनुजी कहते है :—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च घ्रात्वा दृष्ट्वा च यो नराः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥

मनु०

अर्थात् निन्दा स्तुति, अथवा मधुर शब्द या कठोर शब्द, सुनने से, कोमल या कठोर वस्तु के स्पर्श करने से, सुन्दर अथवा

कुरूप वस्तु देखने से, सुन्दर सरस अथवा नीरस कुस्वादु भोजन से, सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध पदार्थ सूँघने से आनन्द अथवा खेद हो दोनों मे अपनी वृत्ति को समान रखे, वही मनुष्य जितेन्द्रिय है।

जितेन्द्रिय पुरुष ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। विषयों मे फँसा हुआ मनुष्य दुर्गति को प्राप्त होता है।

७—धी

ईश्वर ने जितने प्राणी संसार मे पैदा किये है, उन सब मे मनुष्य क्यो श्रेष्ठ है? उसमे ऐसी कौन सी बात है जो और प्राणियों मे नहीं है? आहार, निद्रा, भय, मैथुन इन चार बातो का ज्ञान मनुष्य को है, उसी की तरह अन्य प्राणियों को भी है। परन्तु एक बात मनुष्य मे ऐसी है, जो अन्य प्राणियों मे नही है। और वह बात है—बुद्धि या विवेक। इसी को मनुजी ने धी कहा है। मनुष्य को ही परमात्मा ने यह शक्ति दी है कि, जिससे वह भली-बुरी बात का ज्ञान कर सकता है। किस मार्ग से चलूं, जिससे हमारा उपकार हो, और दूसरों को हानि न पहुँचे? किस मार्ग से चले, जिससे हमारा भी उपकार हो, और दूसरों का भी उपकार हो? यह विवेक मनुष्य को परमात्मा ने दिया है। उसने मनुष्य को बुद्धि दी है, जिससे वह दूसरे प्राणियो के मन की बात जान सकता है। जिसको यह ज्ञान है कि, जिस बात से हमको सुख होता है, उससे दूसरे को भी होता है, और जिस बात से हमको कष्ट होता है, उससे दूसरों को भी कष्ट होता है। इन सब बातों को सोचकर ही वह संसार मे वर्त्तता है! और यदि यह

विवेक और बुद्धि मनुष्य मे न हो तो पशु मे और मनुष्य मे कोई अन्तर नही। कृष्ण भगवान ने गीता मे बुद्धि भी तीन प्रकार की बतलाई है :—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीताश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

गीता, अ० १८

किस काम से हित होगा, किससे अहित होगा, क्या काम करना चाहिये, क्या न करना चाहिये, भय कौन सी चीज है, और निर्भयता क्या है, बन्धन किन बातो से होता है, और स्वतन्त्रता या मोक्ष किन बातो से मिलती है—यह जिससे जाना जाता है वह उत्तम, अर्थात् सात्विकी बुद्धि है। इसी प्रकार जिस बुद्धि से धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य का कुछ ठीक-ठीक ज्ञान नही होता—भ्रम मे आकर सब काम करता है, भाग्यवश चाहे कोई बात कल्याणकारी हो जावे—ऐसी बुद्धि राजसी कहलाती है, और जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है, तथा तमोगुण के प्रभाव के कारण जो बुद्धि सब कामों को उल्टा ही समझती है, वह तामसी बुद्धि है।

जो सतोगुणी बुद्धि को धारण करता है, वही सच्चा बुद्धिमान है। महाभारत मे व्यासजी ने बुद्धिमान मनुष्य का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

धर्ममर्थं च कामं च त्रीनेतान् योऽनुपश्यति ।
अर्थमर्थानुबन्ध च धर्मन्धर्मानुबन्धनम् ॥
काम कामानुबन्ध च विपरीतान् पृथक् पृथक् ।
यो विचिन्त्य धिया धीरो व्यवस्यति स बुद्धिमान् ॥

महाभारत, आदिपर्व

धर्म, अर्थ, काम, तीनों का जो अच्छी तरह विचार करता है—देखता है कि अर्थ क्या है, और किस प्रकार से सिद्ध किया जाय, धर्म क्या है; और उसके प्रधान साधन क्या है, तथा काम क्या है, और उसको किस प्रकार से सिद्ध करे, तथा ऐसे कौन कौन से विघ्न है कि जिनके कारण से हम इन तीनों पुरुषार्थों को भली भाँति सिद्ध नही कर सकते। इस बात को जो धीर पुरुष अपनी बुद्धि से विचारता है, वही बुद्धिमान है।

बुद्धिमान मनुष्य प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी की परीक्षा करके उसके हृदय मे बैठ जाता है, और जिस प्रकार जो मानता है, उसी प्रकार उसको वश मे कर लेता है। वह किसी से अप्रिय आचरण नहीं करता। अपनी उन्नति करता है पर दूसरे की हानि नहीं होने देता। व्यासजी कहते है :—

न वृद्धिर्बहुमन्तव्या या वृद्धि. क्षयमावहेत् ।
क्षयोऽपि बहुमन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥

म० भा०, उद्योगपर्व

जिस उन्नति से दूसरे की हानि हो, वह वास्तव मे उन्नति नहीं, वास्तविक उन्नति तो वह है कि जिससे दूसरे का लाभ हो, चाहे अपनी कुछ हानि हो जाय, तो भी परवा नही। परन्तु वास्तव मे विना सोचे विचारे कोई भी काम नही करना चाहिए। किसी कवि ने कहा है :—

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृताना कर्मणामाविपत्तेः,
भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः।

अर्थात् भला बुरा कैसा ही कार्य करना हो, बुद्धिमान लोग पहले उसका नतीजा भली-भांति सोच लेते हैं, क्योंकि बिना विचारे जो कार्य जल्दी मे किया जाता है, उसका फल शल्य की तरह हृदय को दुःखदायक होता है।

जो बात अपनी समझ मे न आवे, उसको वृद्ध और विद्वान लोगों से पूछना चाहिए। हितोपदेश मे कहा है :—

प्रज्ञावृद्ध धर्मवृद्ध स्वबन्धुम्
विद्यावृद्ध वयसा चापि वृद्धम्॥
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य
यः सपृच्छेन्ना स मुह्येत् कदाचित्॥

जब कोई काम हमको करना हो अथवा न करना हो, तब अपने भाई बन्धु से, जो हमसे विद्या, बुद्धि, धर्म और अवस्था मे वृद्ध हो, सन्मान और प्रेमपूर्वक पूछना चाहिये। उनको प्रसन्न करके उनकी सलाह से जो मनुष्य काम करता है, वह कभी मोह अथवा भ्रम मे नही पड़ता।

जो मनुष्य विवेकशील और बुद्धिमान होता है, वह आनेवाले सकट को पहले ही जानकर उसको रोकने का उपाय करता है। भावी पर भरोसा किये बैठा नही रहता। वह आगे पैर रखने की जगह देखकर पीछे का पैर उठाता है, सहसा बिना विचारे कोई काम नही करता। नीति मे कहा है :—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि ॥

जो स्थिर वस्तु को त्याग कर अस्थिर के पीछे दौड़ता है, उसकी स्थिर वस्तु भी नाश हो जाती है, और अस्थिर तो नाश है ही। इसलिए खूब सोच-समझ कर किसी काम में हाथ लगाना चाहिए। महाभारत मे कहा है :—

सुमंत्रिते सुविक्रान्ते सुकृते सुविचारिते।
सिध्यन्त्यर्था महाबाहो दैवं चात्र प्रदक्षिणम् ॥

महाभारत, वनपर्व।

जो कार्य स्वयं अच्छा होता है, और अच्छी तरह से सोच-समझ कर तथा बड़ों से सलाह लेकर किया जाता है और उसमे खूब परिश्रम भी किया जाता है, वह कार्य सिद्ध होता है, और ईश्वर तथा भाग्य भी उसी के अनुकूल होता है। सोच-समझ कर किया हुआ कार्य ही स्थायी होता है। इस विषय मे नीति में कहा है :—

सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥

खूब अच्छी तरह पचा हुआ अन्न, बुद्धिमान लड़का, अच्छी तरह सिखाई हुई स्त्री, भली-भाँति प्रसन्न किया हुआ राजा, विचारपूर्वक कही हुई बात, विवेकपूर्वक किया हुआ कार्य ये बहुत काल तक बिगड़ नहीं सकते—ठीक बने रहते हैं।

बुद्धिमान पुरुषों को जो कार्य करना होता है, उसको वे पहले प्रकट नहीं करते, जब कार्य हो जाता है, तब आप ही आप

लोग उसे जान लेते हैं। इस विषय मे महाभारत, उद्योगपर्व मे कहा गया है :—

करिष्यन्न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत्
धर्मकामार्थकार्याणि तथा मन्त्रो न भिद्यते।
यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्र वा मन्त्रित परे।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पडित उच्यते॥

जो कार्य करना हो, उसको कहना नही चाहिए, जो कर चुके है, उसको कहने मे कोई भय नही। धर्म, अर्थ, काम, इत्यादि सांसारिक पुरुषार्थों के जितने कार्य है, उनको गुप्त ही रखना चाहिए। जब हो जायँगे, तब आप ही प्रकट हो जायँगे। इसी प्रकार उनके सम्बन्ध के सब गुप्त विचार भी कभी प्रकट न होने देने चाहिएँ। वास्तव मे बुद्धिमान मनुष्य वही है कि जिसका गुप्त विचार तथा दूसरे को बतलाई हुई गुप्त बात, कोई और न जान सके। हॉ, जो कार्य वह कर चुका हो, उसको भले ही कोई जान लेवे।

किन किन बातों का बुद्धिमान मनुष्य को बार बार विचार करते रहना चाहिए, इस विषय मे चाणक्य मुनि का वचन याद रखने योग्य है :—

कः कालः कानि मित्राणि को देशः को व्ययागमौ।
कोऽस्म्यहं क च मे शक्तिः इति चिन्त्य मुहुर्मुहुः॥

समय कैसा वर्त्त रहा है, हमारे शत्रु मित्र कोन है, देश कौन और कैसा है, आमदनी और खर्च क्या हैं, हम कौन है, हमारी शक्ति क्या है, कितनी शक्ति हममे है, इन सब प्रश्नों के विषय मे मनुष्य को बारम्बार विचार करते रहना चाहिए।

८—विद्या

विद्या का अर्थ है जानने की बात। संसार मे जितनी चीजे हमको दिखलाई देती है, और जो नहीं दिखलाई देतीं, सब जानने की बात है। सब का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। सृष्टि से लेकर ईश्वर पर्यन्त सब का ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य की भीतरी आँखे खुल जाती है। परन्तु यदि अधिक न हो सके, तो अपनी शक्ति भर, जहाँ तक हो सके, विद्या और ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। किसी कवि ने कहा है कि—

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या
स्वल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूत तदुपासनीय,
हसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥

अर्थात् शास्त्र अनन्त है। विद्या बहुत है। समय बहुत थोडा है। विघ्न बहुत है। इसलिए जो सारभूत है, वही उपासनीय है, जैसे हंस पानी मे से दूध ले जाता है।

इसलिये अपनी शक्ति भर माता-पिता को अपने बालकों को विद्या अवश्य पढ़ानी चाहिए। चाणक्यनीति मे कहा है :—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हसमध्ये बको यथा ॥

अर्थात् जो माता-पिता अपने बालको को विद्याभ्यास नही कराते वे शत्रु हैं। उनके बालक बड़े होने पर सभा मे अपमानित होते है, और ऐसे कुशोभित होते हैं, जैसे हसो के मे बगुला।

अनेक माता पिता अपने बालकों को, मोह मे आकर, लाड़-प्यार मे डाले रखते है । लड़का ८-१० वर्ष का बड़ा हो जाता है, फिर भी झूठे प्रेम मे आकर उसकी चाल नही सुधारते हैं और मोह मे आकर कहते है, "पढ़ लेगा अभी बच्चा है।" परन्तु वे नहीं समझते कि, हम लाड़ मे अन्धे होकर बच्चे का जीवन खराब कर रहे हैं । प्रेम' मे पड़कर उनको 'श्रेय' का ध्यान नही रहता। प्रेम 'कहते है उसको, जो पहले तो प्रिय माळूम होता है, परन्तु पीछे से विष का काम करता है, और श्रेय उसको कहते है जो पहले कष्टदायक मालूम होता है. पर पीछे से उसमे हित होता है। लड़कों का प्यार भी एक ऐसी ही चीज है, जो पहले तो माता, पिता, इत्यादि को मोह के कारण, प्रिय मालूम होता है पर पीछे से वही लड़के जब उदण्ड बन जाते है, तब माता-पिता और सब को दुःख होता है । इसलिए पाणिनि मुनि ने लिखा है :—

> सोऽमृतै. पाणिभिघ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः ।
> लालनाश्रयिणा दोपास्ताडनाश्रयिणा गुणाः ।

अर्थात् जो माता-पिता और गुरु अपनी सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते है, वे मानो अपनी सन्तान और शिष्यों को अमृत पिला रहे हैं, और जो उनका लाड प्यार करते हैं, वे उनको मानों विप पिलाकर नष्ट-भ्रष्ट कर रहे है, क्योकि लाड़-प्यार से सन्तान और शिष्यो मे अनेक दोप आ जाते है, और ताडन से उनमे गुण आते है ।

वालकों को भी चाहिए कि वे ताड़ना से प्रसन्न और लाड-प्यार से दूर रहा करे । परन्तु माता-पिता, गुरु इत्यादि को ध्यान रखना चाहिये कि वे द्वेप मे आकर उनका ताडन न करे,

किन्तु भीतर से उन पर कृपा-भाव रखकर ऊपर से उन पर कठोर दृष्टि रखे।

अस्तु। विद्या पढ़ने-पढ़ाने में उपर्युक्त बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। और इसलिए हमने इस पर विशेष जोर दिया है। मनुष्य को विद्या की बड़ी आवश्यकता है। इसलिये नहीं कि सिर्फ अपनी जीविका चलाकर अपना पेट भर ले, बल्कि इस लोक और परलोक के सब कर्तव्यों को करते हुये अपने देश का भी उपकार कर सके। विद्या की महिमा का वर्णन करते हुए किसी कवि ने बहुत ही ठीक कहा है :—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तधनम्।
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः॥
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतम्।
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥

अर्थात् विद्या मनुष्य का बड़ा भारी सौन्दर्य है। यह गुप्त धन है। विद्या भोग, यश और सुख को देने वाली है। विद्या गुरुओं का गुरु है। विदेश जाने पर विद्या ही मनुष्य का बन्धु सहायक है। विद्या ही सर्वश्रेष्ठ देवता है। विद्या राजाओं के लिए भी पूज्य है इसके समान और कोई धन नही। जो मनुष्य विद्या से विहीन है, वह पशु है।

विद्या-धन मे एक बड़ी विशेषता और भी है वह यह कि यह खर्च करने से और भी बढ़ता है। दूसरे धन खर्च करने से घटते है, परन्तु इसकी गति उलटी है। यदि विद्या दूसरे को दान न की जाय—पढ़ने-पढ़ाने का क्रम जारी न रखा जाय तो यह भूल जाती है। और यदि पढ़ना पढ़ाना जारी रखा जाय, तो इसकी और वृद्धि होती जाती है। इसी पर एक कवि ने बड़ी अच्छी उक्ति की है। वह कहता है :—

अपूर्वः कोऽपि कोषोय विद्यते तव भारति ।
व्ययाच्च वृद्धिमायाति क्षयमायाति सचयात् ।।

अर्थात् हे सरस्वती देवी, आपके कोष की दशा तो बहुत ही विचित्र जान पड़ती है। क्योंकि व्यय करने से इसकी वृद्धि होती है, और संचय करने से यह घट जाती है। किसी हिन्दी कवि ने एक दोहे मे यही भाव दर्शाया हैं :—

सुरसुति के भडार की बडी अपूरव बात ।
ज्यों खरचे त्यों-त्यों बढै बिन खरचे घटि जात ।।

इसलिये मनुष्य को चाहिये कि, विद्या का पढना-पढ़ाना कभी न्द न करे। कौन से शास्त्र और विद्या मनुष्य को पढ़नी चाहिए इस विषय मे मनुजी का आदेश इस प्रकार है :—

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।।
नित्य शास्त्राण्यवेक्षेत निगमाश्चैव वैदिकान् ।।

वेदादि शास्त्र, जिनमे शिल्पशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, इत्यादि सब आ जाते हैं, और जो शीघ्र बुद्धि, और हित को बढ़ाने वाले है, उनको नित्य पढ़ना-पढ़ाना चाहिए। यह नही कि विद्यालय मे पढ़कर उनको भूल जाओ, वल्कि जीवन भर अपनी जीविका का कार्य करते हुये उनका अभ्यास करते रहना चाहिये।

आजकाल पुस्तकी विद्या का प्रचार हो रहा है, पर वास्तव मे पुस्तकी विद्या सदैव काम नही देती है। इस लिये विद्या अपने आचरण मे लानी चाहिये। सब बात कंठाग्र होनी चाहिये। और उनको कार्य मे लाने का कौशल भी जानना चाहिए। पुस्तकी विद्या के विषय मे चाणक्य मुनि ने इस प्रकार कहा है :—

पुस्तकेषु च या विद्या परहस्तेषु यद्धनम् ।
उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तद्धनम् ॥

चाणक्य०

अर्थात् पुस्तक की विद्या और पराये हाथ का धन कार्य पड़ने पर उपयोग मे नही आता। न वह विद्या है, और न वह धन है ।

विद्या पढ़ने मे बालकों को खूब मन लगाना चाहिये क्योंकि बालपन मे जो विद्या पढ़ ली जाती है, वह जिन्दगी भर सुख देती रहती है और विद्या एक ऐसा धन है, जिसमे किसी प्रकार का विघ्न भी नहीं। किसी कवि ने कहा है :—

न चौरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्य न च भारकारि ।
व्यये कृते वर्धत एव नित्य ।
विद्या धन सर्वधनप्रधानम् ॥

अर्थात् विद्या-धन को न तो चोर चुरा सकता है न राजा डाँड सकता है, न भाई बँटा सकता है, और न कोई इसका बोझा है । फिर व्यय करने से रोज बढ़ता है। सचमुच ही विद्याधन सब धनों से श्रेष्ठ है ।

९—सत्य

जो बात जैसी देखी, सुनी अथवा की हो अथवा जैसी वह मन मे हो उसको उसी प्रकार वाणी द्वारा प्रकट करना सत्य बोलना कहलाता है। मनुष्य को न सिर्फ सत्य बोलना ही चाहिये, बल्कि सत्य ही विचार मन मे लाना चाहिये, और सत्य ही काम

भी करना चाहिये। सर्वथा सत्य का व्यवहार करने से ही मनुष्य को स्वार्थ और परमार्थ मे सच्ची सफलता मिल सकती है। जो मनुष्य अपने सब कार्यों मे सत्य को धारण करता है वह क्रिया सिद्ध और वाचासिद्ध हो जाता है। अर्थात् जो कार्य करता है, उसमे निष्फलता कभी होती ही नही, और जो बात कहता है वह पूरी ही हो जाती है।

सत्य वास्तव मे ईश्वर का स्वरूप है। इसलिये जिसके हृदय मे सत्य का नाम है, उसके हृदय मे ईश्वर का वास है। किसी ने कहा है :—

साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप॥

'अर्थात् सत्य के समान और कोई तप नहीं और झूठ के बराबर कोई पाप नही। जिसके हृदय मे सत्य का वास है, उसके हृदय मे परमात्मा का वास है। इसलिये सत्य का आचरण करने मे कभी मनुष्य को पीछे न हटना चाहिये। उपनिषद् मे भी यह कहा है :—

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातक परम्।
नहि सत्यात्पर ज्ञान तत्मात्सत्य समाचरेत्॥

अर्थात् सत्य से श्रेष्ठ अन्य कोई धर्म नहीं है, और झूठ के बराबर अन्य कोई पातक नहीं है। इसी प्रकार सत्य से श्रेष्ठ और कोई ज्ञान नही है। इसलिये सत्य का ही आचरण करना चाहिये।

प्रायः ससार मे ऐसा देखा जाता है कि सत्य का आचरण करनेवाले को कष्ट उठाना पड़ता है, और मिथ्याचरणी पाखंडी धूर्त लोग सुख से जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु जो विचार-

शील मनुष्य है, वे जानते है कि सत्य से प्रथम तो चाहे कष्ट हो, परन्तु अन्त मे अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। और मिथ्या आचरण से पहले सुख होता है, और अन्त मे मनुष्य की दुर्गति होती है। वास्तव मे सच्चा सुख वही है, जो परिणाम मे हितकारक हो। देखिये, कृष्ण भगवान् गीता मे तीन प्रकार के सुखो की व्याख्या करते हुये कहते है :—

> यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोमम्।
> तत्सुख सात्विक प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

अर्थात् जो पहले तो विष की तरह कटु और दुःख दायक मालूम होता है, परन्तु पीछे अमृत के तुल्य मधुर और हितकारक होता है, वही सच्चा सात्विक सुख है। ऐसा सुख आत्मा और बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है।

आत्मा और बुद्धि की प्रसन्नता का उपाय क्या है? क्या मिथ्या आचरण से कभी आत्मा और बुद्धि प्रसन्न हो सकती है? सब जानते हैं कि, पापी आदमी की बुद्धि ठिकाने नही रहती। उसका पाप ही उसको खाता रहता है। पहिले तो वह समझता है कि मै मिथ्या आचरण करके खूब सुखी हूँ, पर उसके उसी सुख के अन्दर ऐसा गुप्त विष छिपा हुआ है, जो किसी दिन उसका सर्वनाश कर देगा। उस समय उसे स्वर्ग नरक कहीं भी ठिकाना न लगेगा। इसलिये मिथ्या आचरण छोडकर मनुष्य को सदैव सत्य का ही वर्ताव करना चाहिये। इसी से मन और बुद्धि को सच्ची प्रसन्नता प्राप्त होती है और ऐसा सच्चा सुख प्राप्त होता है जिसका कभी नाश नहीं होता।

सत्य से ही यह सारा संसार चल रहा है। यदि सत्य एक क्षण के लिये भी अपना काम बन्द कर दे, तो प्रलय हो जाय। यदि एक मनुष्य कुछ मिथ्या आचरण करता है, तो दूसरा तुरन्त

ही सत्य आचरण करके इस सृष्टि की रक्षा करता है। यह मनुष्य की ही बात नही है, बल्कि संसार की अन्य सब भौतिक शक्तियाँ भी सत्य से ही चल रही है। चाणक्य नीति मे कहा है :—

> सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।
> सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात् सत्य से ही पृथ्वी स्थिर है, सत्य से ही सूर्य तप रहा है और सत्य से ही वायु बह रही है। सत्य मे ही सब स्थिर है।

जो लोग सत्य का आचरण नहीं करते हैं उनकी पूजा, जप, तप सब व्यर्थ है। जैसे ऊसर भूमि मे बीज बोने से कोई फल नही होता, उसी प्रकार मिथ्या आचरण करने वाला चाहे जितना धर्म करे, सत्य के बिना उसका कोई फल नही होता। आजकल प्रायः हमारे देश मे देखा जाता है कि पाखण्डी लोग सब प्रकार से मिथ्या व्यहार करके लोगों का गला काट कर, अपने सुख-भोग के सामान जमा करते है, परन्तु ऊपर से अपना ऐसा भेप बनाते है जैसे वे कोई बड़े भारी साधु और ईश्वर-भक्त हो। स्नान-सन्ध्या, जप, तप, सब धर्म के कार्य नियमित रूप से करते हैं, पर कचेहरी मे जाकर झूठी गवाही देते है। ऐसे लोगो का सव धर्म-कर्म व्यर्थ है। लोग उनको अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। भले आदमियो मे उनका आदर कभी नहीं होता। ऐसे धूर्त और पाखण्डी लोगों से सदैव बचना चाहिये।

ये लोग ऊपर से सत्य का आचरण रखकर भीतर से मिथ्या व्यवहार करते है। जो सीधे-सादे मनुष्य होते है, जिनको नीति का ज्ञान नही है, वे इनकी 'पालिसी' मे आ जाते है। जिसमे मिथ्या की पालिश की होती है, उसी को 'पालिसी' कहते है।

पालिसी को सदैव अपने जलते हुए सत्य से जला डालो। क्योंकि ऋषियों ने कहा है :—

सत्यमेव जयते नानृत सत्येन पन्था विततो देवयानः।

अर्थात् सत्य की ही विजय सदैव होगी। मिथ्या की नहीं। सत्य के ही मार्ग से परमात्मा मिलेगा। सब प्रकार के कल्याण का ज्ञान सत्य से ही होगा। हमारे पूर्वज ऋषिमुनि लोगों ने सत्य का ही मार्ग स्वीकार किया, और उनमे यह शक्ति हो गई थी कि, जिसके लिये वे जो बात कह देते थे, उसके लिए वही हो जाता था। चाहे जिसको शाप दे देते, चाहे जिसको बरदान दे देते। यह सत्य-साधना का ही बल था। वे मिथ्या वाणी का उपयोग कभी नहीं करते थे, न कोई मिथ्या बात मन मे लाते थे, और न कोई मिथ्या कार्य करते थे। वास्तव मे मनुष्य का धर्माधर्म सत्य पर ही निर्भर है। एक सत्य का बर्ताव कर लिया, इसी मे सब आ गया। फिर कोई उसको अलग धर्म करने की जरूरत ही नही रह जाती। क्योंकि कहा है :—

सत्य धर्मस्तपोयोगः सत्य ब्रह्म सनातनम्।
सत्य यज्ञ. परः प्रोक्तः सर्व सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात् धर्म, तप, योग, परब्रह्म इत्यादि जितना कुछ कल्याण स्वरूप है, वह सब सत्य ही है। सत्य म सब आ जाता है। इसलिए सदैव आत्मा के अनुकूल आचरण करो ऐसा न करो कि मन मे कुछ और हो वचन से कुछ और कहो, और करो कुछ और! मन, वाणी और कर्म, तीनों मे एकता रखो। यही सत्य है। इसी से तुम्हारा हित होगा और इसी से तुम संसार का हित कर सकोगे। आइये पाठक, हम सब मिल कर उस सत्य-स्वरूप परमात्मा की स्तुति करे, उसी की शरण मे चले जिससे

वह हृदय मे ऐसा बल देवे कि, हम सत्य की रक्षा कर और असत्य का दमन कर सके :—

सत्यव्रत, सत्यपर त्रिसत्य,
सत्यस्य योनिं निहिंत च सत्ये।
सत्यस्य सत्य ऋतसत्यनेत्रम्,
सत्यात्मक त्वा शरण प्रपद्ये ।

हे सत्यव्रत, हे सत्य से भी श्रेष्ठ, हे तीनों लोक और तीनों काल मे सत्यस्वरूप, हे सत्य के उत्पत्ति स्थान, हे सत्य में रहने-वाले, हे सत्य के भी सत्य, हे कल्याणकारी सत्य के मार्ग से ले चलने वाले, सत्य की आत्मा, हम आपकी शरण आये हैं।

१०—अक्रोध

काम. क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर ये छै मन के विकार हैं, जो मनुष्य के शत्रु माने गये है। इन छै विकारों को जिसने जीत लिया, उसने मानो अपने आप को जीत लिया। यही छै विकार मन के अन्दर ऐसे बसते है कि जिनके कारण मनुष्य आप ही अपना दुश्मन हो जाता है, और यदि इनको जीतकर अपने वश मे कर लिया जाय, तो मनुष्य आप ही अपना मित्र है।

वन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।
गीता, अ० ६

जिसने अपने आपको, अपने आप के द्वारा, जीत लिया है, अर्थात् उपर्युक्त छओं मनोविकारों को अपने वश मे कर लिया है, उसकी आत्मा उसका मित्र है—अर्थात् इन छओं मनोविकारों

को अपने वश मे रखकर वह इनसे अपना कल्याण कर सकता है, और जिसने इनको अपने-आप वश मे नही किया है उसके लिये ये शत्रु तो बने बनाये हैं। इनके वश मे होकर रहने वाला मनुष्य आप अपना घात करने के लिये काफी है। उसके लिए किसी बाहरी शत्रु की आवश्यकता नही।

इनमे प्रथम दो विकार, काम और क्रोध सबसे अधिक प्रबल हैं, क्योंकि इन्हीं से अन्य सब विकार पैदा होते है। इन दोनों के विषय मे श्रीकृष्ण भगवान् गीता मे कहते हैं :—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्

गीता, अ० ३

अर्थात् यह काम और यह क्रोध, जो मनुष्य के रजोगुण अर्थात् अज्ञानमूलक स्वार्थ से पैदा होता है, बड़ा भारी भक्षक पापी राक्षस है। इस संसार मे मनुष्य का यह भारी दुश्मन है। यह किस प्रकार पैदा होता है, और फिर किस प्रकार मनुष्य का नाश करता है. इसका भी क्रम जानने योग्य है :—

ध्यायतो विषयान्पु सः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति समोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्र शाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

गीता अ० २

मनुष्य पहले विषयों का चिन्तन करता है। विषयों के चिन्तन से फिर उन विषयों मे प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति उत्पन्न होने से फिर उनको पाने की इच्छा उत्पन्न होती है। पाने

की इच्छा उत्पन्न होने के बाद जब इच्छापूर्ति नही होती तब क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अविवेक होता है, अर्थात् क्या करना चाहिये, क्या नही करना चाहिये, यह विचार-शक्ति नही रहती। जब विचार-शक्ति नही रहती, तब वह अपने आप को भूल जाता है, और जब वह अपने-आप को भूल गया, तब उसकी बुद्धि अर्थात् भले-बुरे का विचार करके किसी निर्णय तक पहुँचने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है, और जहाँ यह शक्ति नष्ट हुई कि मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

इसलिए काम से उत्पन्न होने वाला क्रोध, जो सब पापों का मूल है, उसको वश मे करके मनुष्य को अक्रोध बनना चाहिये। अक्रोध का यह मतलब नही है कि क्रोध का कोई भी अश मनुष्य के अन्दर न रहे। बल्कि इसका इतना ही मतलब है कि, ऐसे क्रोध को धारण न करो कि जिससे स्वयं अपनी अथवा दूसरे की हानि हो। हाँ, विवेक के साथ क्रोध करने से हानि नही हो सकती। क्रोध के साथ यदि विवेक शामिल होता है, तो वह क्रोध तेज के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। महाभारत मे कहा है :—

यस्तु क्रोध समुत्पन्न प्रज्ञया प्रतिबोधते।
तेजस्विन त विद्वांसो मन्यन्ते तत्वदर्शिनः ॥

महाभारत, वनपर्व

क्रोध उत्पन्न होने पर जो मनुष्य विवेक के द्वारा उसको अपने अन्दर ही रोक लेता है, उसको विद्वान तत्वदर्शी पुरुष तेजस्वी कहते है, और इस तेजस्विता की मनुष्य के लिये बड़ी जरूरत है। तेजस्वी मनुष्य अन्दर से कोमल रहता है, परन्तु ऊपर से कठोरता धारण करता है। दुष्टो का दमन करने और पीड़ितों को अत्याचार से छुड़ाने के लिये तेजस्विता दिखानी

पड़ती है। तेजस्विता ही शूरता और निर्भयता की जननी है। तेजस्वी पुरुष की बुद्धि सदैव निर्मल रहती है वह क्रोध करता है, परन्तु क्रोध के कारण उसके हाथ से कोई अनर्थ अथवा पाप नही होने पाता। इसीलिये कहा है कि—

क्रोधेऽपि निर्मलधिया रमणीयतास्ति।

अर्थात् जिसकी बुद्धि पापरहित है, उसके क्रोध मे भी एक प्रकार का सौन्दर्य रहता है। साधु पुरुषों के क्रोध से भी कल्याण होता है। वे जिसके ऊपर क्रोध करते हैं, उसका भला होता है। सर्वसाधारण लोगों को चाहिये कि, छोटी-छोटी बातों पर अथवा विना कारण क्रोध करने की आदत न डाले। यदि किसी कारण वश क्रोध आ जावे, तो उसको साधने का प्रयत्न करे, और यदि क्रोध करने की आवश्यकता ही मालूम हो, तो अपने आपे मे रहकर तात्कालिक थोड़ा सा क्रोध दिखलाकर फिर तुरन्त शान्ति धारण कर ले। दूसरा यदि क्रोध करता हो तो कभी उसके बदले मे क्रोध न करना चाहिये। बल्कि ऐसे मौके पर स्वयं पूर्ण शान्ति धारण करके उसके क्रोध को शान्त करना चाहिये :—

अक्रोधेन जयेत् क्रोध असाधु साधुना जयेत्।
महाभारत, उद्योगपर्व।

अक्रोध अर्थात् शान्ति से क्रोध को जीते, और दुष्टता को सज्जनता से जीते। व्यर्थ क्रोध करने से अपना ही हृदय जलता है, दूसरे को कोई हानि नहीं होती। क्रोध मे आकर जब मनुष्य अपने आपे से बाहर हो जाता है, तब अपने बड़े-बड़े प्रियजनों की भी हत्या कर डालता है, और जब वही क्रोध घोर दुःख और पश्चात्ताप के रूप मे परिवर्तित हो जाता है, तब मनुष्य आत्म-हत्या करने मे भी नही चूकता। किसी कवि ने कहा है :—

क्रोधस्य कालकूटस्य विद्यते महदन्तरम्।
स्वाश्रयं दहति क्रोधः कालकूटो न चाश्रयम्॥

अर्थात् क्रोध और कालकूट जहर मे एक बड़ा भारी अन्तर है—क्रोध जिसके पास रहता है, उसी को जलाता है, परन्तु जहर जिसके पास रहता है। उसको कोई हानि नही पहुँचता।

क्रोध से दुर्बलता आती है। शान्ति से बल बढ़ता है। इस लिए काम-क्रोधादि सब दुष्ट मनोविकारों को अपने अन्दर ही मार कर शान्ति धारण करना चाहिये। शान्ति से चित्त प्रसन्न रहता है, मन और शरीर का सौन्दर्य बढ़ता है। जिसके हृदय मे सदैव शान्ति रहती है, उसके चेहरे पर भी शान्ति विराजती है। उसके प्रफुल्ल और प्रसन्न वदन को देखकर देखने वाले को आनन्द प्राप्त होता है। इसके विरुद्ध जिसके मन मे सदैव क्रूरता और क्रोध के भाव उठते रहते है, उसका चेहरा विकृत और बदसूरत हो जाता है। ऐसे मनुष्य को देखकर घृणा होती है। इसलिए मन, वचन और कर्म तीनो मे मधुरता और शान्ति धारण करने से मनुष्य स्वयं सुखी रहता है, और संसार को भी उससे सुख होता है। वेद मे कहा है :—

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयास मधुसन्दृशः॥

अथर्ववेद

अर्थात् हमारा आचरण मधुरतापूर्ण हो, हम जिस कार्य मे तत्पर हों, वह मधुरतापूर्ण हो, हम मधुर वाणी बोले, हमारा सब कुछ मधुमय हो।

———

धर्मग्रन्थ

वेद

हिन्दुओं का मूल ग्रन्थ वेद है। यह सृष्टि के आदि मे परमात्मा ने उत्पन्न किया। वेद-ग्रन्थ चार हैं—(१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद, और (४) अथर्ववेद। चारो वेद परमात्मा से ही सृष्टि की आदि मे उत्पन्न हुये। इस विषय मे ऋग्वेद मे ही उल्लेख है :—

> तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि यज्ञिरे।
> छन्दांसि यज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
>
> —ऋग्वेद

अर्थात् उस परम पूज्य यज्ञस्वरूप परमात्मा से ही ऋक्, साम छन्द, (अथर्व) और यजुर्वेद उत्पन्न हुए। अब प्रश्न यह है कि सृष्टि की आदि मे परमात्मा ने वेदों के मन्त्र कैसे उत्पन्न किये। वृहदारण्यक उपनिषद् मे लिखा है :—

> अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदोयजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस
>
> वृहदारण्यक

उस महाभूत परमात्मा के निःश्वास से चारों वेद निकले! क्या परमात्मा ने श्वास छोड़ा था? हॉ! किस प्रकार? उसका ज्ञान ही उसका श्वास है। यह श्वास उसने सृष्टि के आदि मे चार ऋषियों के हृदय मे छोड़ा था। ये चार ऋषि पहले-पहल

सृष्टि मे उत्पन्न हुए। उन्हीं चार ऋषियों के द्वारा वेद प्रकट हुए। शतपथ ब्राह्मण ने लिखा है :—

अग्नेऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।

शतपथ ब्रा०

अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा ऋषि के हृदय मे परमात्मा ने पहले-पहल क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान प्रकाशित किया। अपने हृदय मे इन चारों ऋषियो ने परमात्मा का ज्ञान सुना, और इसीलिए वेदो का नाम 'श्रुति' पड़ा।

वेदों मे ही परमात्मा ने अखिल मानवजाति के लिए धर्म का ज्ञान दिया है। फिर वेदो से ही अन्य सब ग्रन्थों मे ज्ञान का विकास हुआ है। अर्थात् संसार के अन्य सब ग्रन्थ वेदो के बाद रचे गये है और उन सब मे वेदों के ज्ञान की ही भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है।

उपवेद

प्रत्येक वेद का उपवेद है—जैसे (१) ऋग्वेद का अथर्ववेद, जिसम विज्ञान, कला-कौशल, कृषि, वाणिज्य इत्यादि धन उत्पन्न करने के साधनों का वर्णन है। (२) यजुर्वेद का धनुर्वेद जिसमे राजनीति, शस्त्रअस्त्र की कला और युद्धविद्या का वर्णन है, (३) सामवेद का गन्धर्व वेद, जिसमे संगीत-शास्त्र का वर्णन है, (४) अथर्ववेद का आयुर्वेद, जिसमे वनस्पति, रसायन और शरीर-शास्त्र इत्यादि का वर्णन है।

वेदाङ्ग

वेद के छे अंग हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं, शिक्षा, कल्प,

व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। ये छओं अङ्ग भी वेद की व्याख्या करते हैं।

वेदोपाङ्ग

छै अंगों की तरह वेद के छै उपाङ्ग भी हैं। उनके नाम ये है। (१) न्याय, गौतम ऋषि का बनाया हुआ, (२) वैशेषिक कणाद ऋषि का रचा हुआ, (३) सांख्य, महर्षि कपिल का निर्मित किया हुआ है (४) योग, भगवान् पतंजलि का, (५) मीमांसा महर्षि जैमिनि का, (६) वेदान्त, महर्षि वादरायण उपनाम वेदव्यास का रचा हुआ। वेद के इन्ही छै उपाङ्गों को छे शास्त्र या षड्दर्शन भी कहते है। इनमे ईश्वर, जीव और सृष्टि का तत्व-विचार है। सब का परस्पर सम्बन्ध और बन्ध मोक्ष का उत्तम विचार है। यह भी सब वेद की ही व्याख्या करते है।

ब्राह्मण ग्रन्थ

वेदों की व्याख्या करने वाले कुछ ब्राह्मण ग्रन्थ है, जिनमे ऐतरेय, शतपथ, साम, गोपथ, ये चार मुख्य ब्राह्मण ग्रन्थ है। इनमे क्रमशः ऋग्, यजु, साम और अथर्व के कर्मकाण्ड की प्रधानता से व्याख्या की गई है। ज्ञानकाण्ड भी है।

उपनिषद्

उपनिषद् मुख्यतया ग्यारह है, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुडक, मण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक और श्वेताश्वेतर। सब उपनिषद् प्रायः वेदों के ज्ञान काण्ड की ही, प्रधानता मे, व्याख्या करते है।

स्मृति-ग्रन्थ

स्मृतिग्रन्थ मुख्य मुख्य अठारह हैं, मनु, याज्ञवल्क्य, अग्नि, विष्णु, हारीत, औशनस, आंगिरस, यम, आपस्तम्ब, शातातप, वसिष्ठ। ये अष्ठादश स्मृतियाँ भिन्न-भिन्न ऋषियों की रची हुई उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। ये वेद के धर्माचार की अपने अपने मतानुसार, व्याख्या करती है। मनुस्मृति सब से प्राचीन और सर्वमान्य समझी जाती है।

पुराण

पुराण-ग्रन्थ भी मुख्यतया अठारह हैं। उनके नाम इस प्रकार है, ब्राह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, लिंग, बराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्डपुराण। सब पुराण प्रायः व्यास जी के रचे हुए माने जाते हैं। इनमे विशेषकर इतिहास का वर्णन और देवताओं की स्तुति है। बीच-बीच मे वेदो के ज्ञान, कर्म और उपासना काण्ड की व्याख्या भी मौजूद है।

काव्य-इतिहास

हिन्दू धर्म के दो बहुत बडे महाकाव्य है—रामायण और महाभारत। इनको इतिहास भी कह सकते हैं। रामायण महर्षि बाल्मीकि और महाभारत महर्षि व्यास का रचा हुआ है। पहले काव्य मे मर्यादा-पुरुषोत्तम महाराजा रामचन्द्र जी का आदर्श चरित्र वर्णन किया गया है, और दूसरे मे विशेष कर कौरवों पाण्डवों के युद्ध की कथा है। इसके अतिरिक्त उसमे और भी बहुत से ऐतिहासिक वर्णन तथा सैकड़ो आख्यान दिये गये हैं। हिन्दू धर्म का छोटा, परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण धर्मग्रन्थ श्रीमद्-

भगवद्गीता भी महाभारत के ही अन्तर्गत है। यह महायोगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् का अर्जुन को बतलाया हुआ ज्ञानग्रन्थ है। महाभारत हिन्दुओं का बड़ा भारी धार्मिक ग्रन्थ है। यहाँ तक कि इसको पाँचवाँ वेद भी कहा गया है। इस ग्रन्थ मे नीति और धर्म के सब तत्व बड़ी ही सरलता के साथ अनेक प्रसंगों के निमित्त से बतला दिये है। एक विद्वान ने कहा है:—

> भारते सर्व वेदार्थो भारतार्थश्च कृत्स्नशः।
> गीतायामस्ति तेनेव सर्वशास्त्रमयी मता॥

महाभारत में वेदों का सारा अर्थ आ गया है, और महाभारत का सम्पूर्ण सार गीता मे आ गया है। इसलिये गीता सब शास्त्रों का संग्रह मानी गई है।

———

दूसरा खण्ड

वर्णाश्रम धर्म

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः"

—गीता अ० १८—४५ ।

चार वर्ण

आर्य हिन्दू धर्म मे चार वर्ण पहले से ही माने गये हैं। ये वर्ण इसलिये माने गये हैं कि, जिससे चारों वर्ण अपने अपने धर्म या कर्त्तव्य का उचित रूप से पालन करते रहे। वेदों मे चारों वर्णों का इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

अर्थात् विराटरूप ईश्वर के चार अंग है। ब्राह्मण मुख है। राजा लोग अर्थात् क्षत्रिय भुजा हैं। वैश्य शरीर का धड़ या जङ्घा हैं और शूद्र पैर हैं।

इस प्रकार से हमारे धर्म मे चारों वर्णों के कर्तव्यों का दिग्दर्शन करा दिया गया है। मुख या शिरोभाग ज्ञानप्रधान है, इसलिये ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे विद्या और ज्ञान के द्वारा सब वर्णों की सेवा करे। राजा लोग अर्थात् क्षत्रिय बल प्रधान हैं, इसलिये उनको उचित है कि, प्रजापालन और दुष्टों का दमन करके देश की सेवा करे। वैश्य लोग धनप्रधान या व्यवसाय प्रधान हैं, इसलिये उनको उचित है कि, जैसे शरीर का मध्य भाग भोजन पाकर सारे शरीर मे उसका रस पहुँचा देता है, इसी प्रकार वैश्य लोग भी व्यवसाय-द्वारा धन कमाकर देश की सेवा मे उसको लगावे। रहे शूद्र लोग इनका कर्तव्य है कि, अपनी अन्य सेवाओं के द्वारा जन समाज की सेवा करे।

अब ध्यान रखने की बात यह है कि इन चारों वर्णों मे कोई छोटा अथवा बड़ा नही है। सब अपने अपने कर्मों मे श्रेष्ठ है। कोई भी यदि अपने कर्म को नही करेगा, तो वह दोष का भागी होगा—चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र। देश या जन समाज के लिये सब की समान ही आवश्यकता है। शरीर मे से यदि कोई भी भाग न रहे, अथवा निकम्मा हो जाय, तो दूसरे का काम नही चल सकता। सारा शरीर ही निकम्मा हो जायगा। इसी प्रकार चारों वर्णों का भी हाल है। यदि कोई कहे कि शूद्र छोटा है, तो यह उसकी बड़ी भारी भूल है। क्योंकि शरीर यदि अपने पैरों की सेवा न करे, लापरवाही से काम ले, अथवा उनको कष्ट दे, तो अपने ही पैर मे कुल्हाड़ी मारने के समान होगा। देश को विद्या, बल, धन और श्रमसेवा चारों की समान ही आवश्यकता है। इन्ही चारों की समतुल्यता और पारस्परिक आदर-भाव जब से इस धर्म-प्रधान देश से उठ गया, तभी से यह देश पराधीन होकर पीड़ित हो रहा है। सब कष्ट मे है। इसलिये चारों वर्णों को, एक दूसरे का समादर करते हुये अपने अपने धर्म या कर्तव्य का पालन बराबर करते रहना चाहिये, हमारे धर्म-ग्रन्थ मे चारो वर्णों के जो कर्तव्य बतलाये गये है, वे नीचे लिखे जाते है :—

ब्राह्मण

मनु महाराज ने ब्राह्मणों का कर्तव्य इस प्रकार बतलाया है :—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

मनुस्मृति।

स्वय विद्या पढ़ना और दूसरो को पढ़ाना, स्वयं यज्ञ करना दूसरे को कराना, स्वय दान लेना और दूसरे को दान देना—ये छः कर्म ब्राह्मण के है। परन्तु मनु जी ने एक जगह "प्रतिग्रहः प्रत्यवरः" कहकर बतलाया है कि दान लेना यद्यपि ब्राह्मण का कर्म अवश्य है, क्योकि और कोई दान नही ले सकता, परन्तु यह ब्राह्मण के सब कर्मो से नीच कर्म है। अर्थात् दान ले करके दान देना जरूर चाहिए, अन्यथा उसका प्रायश्चित्त नही होगा, और इसी कारण दान लेने के कर्त्तव्य का नाम प्रतिग्रह रखा गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता मे कृष्ण भगवान ने ब्राह्मण के कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाये है .—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञान विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

भगवद्गीता

अर्थात् (१) शम—मन से बुरे काम की इच्छा भी न करना, और उसको अधर्म प्रवृत्त न होने देना, (२) दम—सब इन्द्रियो को बुरे काम से रोककर अच्छे काम मे लगाना, (३) शौच—शरीर और मन को पवित्र रखना, (४) शान्ति—निन्दा-स्तुति, सुख-दुख हानि-लाभ, जीवन-मरण, हर्ष-शोक, मान-अपमान, शीत-उष्ण इत्यादि जितने द्वन्द्व है, सब मे अपने मन को समतोल रखना, अर्थात् शान्ति, क्षमा, सहनशीलता धारण करना, (५) आर्जव—कोमलता, सरलता, निरभिमानता धारण करना, (६) ज्ञान—विद्या पढ़ना-पढ़ाना, और बुद्धि-विवेक धारण करना, (७) विज्ञान—जीव, ईश्वर, सृष्टि, इत्यादि का सम्बन्ध विशेष रूप से जानकर संसार के हित मे इनका उपयोग करना, (८) आस्तिक्य—ईश्वर और गुरुजनो की उपासना और सेवा-भक्ति करना।

ये सब ब्राह्मण के कर्त्तव्य है। यों तो ये सब कर्त्तव्य ऐसे हैं जिनको चारों वर्णों को, अपने अपने अनुसार, धारण करना चाहिए; परन्तु ब्राह्मण के लिए तो स्वाभाविक हैं। ब्राह्मण यदि इन कर्मों से च्युत हो जाय, तो शोचनीय है।

क्षत्रिय

क्षत्रिय अर्थात् राजा के कर्त्तव्य मनु महाराज ने इस प्रकार बतलाये है :—

> प्रजाना रक्षण दानमिज्याध्ययनमेव च।
> विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥
>
> मनुस्मृति

अर्थात् (१) न्याय से प्रजा की रक्षा करना, पक्षपात छोड़कर श्रेष्ठो का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सब का यथायोग्य पालन करना. (२) प्रजा को विद्यादान देना-दिलाना, सुपात्रों का धन इत्यादि से सत्कार करना, (३) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करना, (४) विषयों मे फँसकर सदा जितेन्द्रिय रहते हुए शरीर और आत्मा से बलवान् रहना. ये सब क्षत्रियों के कर्त्तव्य है।

> शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्य युद्धे चाप्यपलायनम्।
> दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम् ॥
>
> भगवद्गीता

अर्थात् (१) शौर्य—सैकड़ो हजारों शत्रुओं से भी अकेले युद्ध करने मे भय न होना, (२) तेज—तेजस्विता और दुष्टों पर आतंक रखना, (३) धृति—साहस, दृढ़ता, और धैर्य का

धारण करना, (४) दक्ष—राजनीति और शासनकार्य मे दक्षता रखना, (५) युद्ध मे किसी प्रकार से भगे नहीं, जिस तरह हो, शत्रु का नाश करे, (६) विद्यादानादि से प्रजा का पालन करना, (७) सदा सर्वत्र परमात्मा को देखना, और अकारण किसी प्राणी को कष्ट न देना।

वैश्य

वैश्य के कर्म मनु महाराज ने इस प्रकार बतलाये हैं :—

पशूना रक्षण दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथ कुसीद च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

मनुस्मृति

अर्थात् (१) पशुरक्षा गाय आदि पशुओं का पालन और रक्षण, (२) दान, विद्या और धर्म की वृद्धि करने के लिये धन खर्च करना, (३) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना, (४) अध्ययन वेदादि शास्त्रों और विज्ञानों का पढ़ना, (५) सब प्रकार से अपने देश के व्यापार की वृद्धि करना, (६) समुचित व्याज का व्यापार अर्थात् साहूकारी या महाजनी का काम करना, (७) कृषि अर्थात् खेती करना, हल जोतना इत्यादि।

श्री मद्भगवद्गीता मे भी वैश्य के कर्त्तव्य यही बतलाए गए हैं।

शूद्र

मनु महाराज ने शूद्र का कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाया है :—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु' कर्म समादिशत्।
एतेपामेव वर्णाना शुश्रूपामनसूयया॥

मनु०

अर्थात् ईर्षा-द्वेष, निन्दा, अभिमान इत्यादि दोषों को छोड़ कर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करना ही एक मात्र शूद्र का कर्त्तव्य है।

मनुजी ने ठीक कहा है, परन्तु इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि शूद्र तो हमारा दास या गुलाम है, हम चाहे जिस तरह उससे सेवा लेवे। वास्तव मे सेवा-धर्म बड़ा गहन है, और सब धर्मों से पवित्र है। जिस प्रकार अन्य तीनों वर्ण अपने-अपने कर्त्तव्यों में स्वतन्त्र, परन्तु जहाँ दूसरों का सम्बन्ध आता है वहाँ परतन्त्र है उसी प्रकार शूद्र भी अपने कर्म मे स्वतन्त्र है। वह अपने धर्म को समझकर सेवा करेगा, और अन्य वर्णों को चाहिए कि वे अपने धर्म को ही समझकर उससे सेवा का कार्य लेवे। परस्पर एक दूसरे का आदर करे, क्योंकि शूद्र के सेवा-धर्म पर ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य इत्यादि द्विजातियों का जीवन अवलम्बित है।

पुराणों मे शूद्रों के कर्त्तव्य का और भी अधिक खुलासा किया गया है। वाराहपुराण मे शूद्र का कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाया है :—

> शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तया जीवनवान् भवेत्।
> शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेत् द्विजातिहितमाचरन्॥
>
> वाराहपुराण

अर्थात् शूद्र लोग तीनों द्विजातियों का हित करते हुये उनकी सेवा करे, और शिल्पविद्या (कारीगरी, विज्ञान) इत्यादि अनेक कर्मों से अपनी आजीविका करे। सारांश यह है कि शूद्र भी हमारे समाज का एक आवश्यक और शुद्ध अग है। उसके साथ यदि हम आदर का वर्ताव करेगे तो वे भी हमारे गौरव को बढ़ाये विना न रहेगे।

वर्ण-भेद

अब यह देखना चाहिए कि यह वर्ण-भेद क्यों किया गया। क्या ईश्वर का यही हेतु था कि मनुष्य-जाति मे फूट पड जाय, सब एक दूसरे से अपने को अलग समझकर—मिथ्या अभिमान में आकर—देश का सत्यानाश करे? कृष्ण भगवान ने स्वयं गीता मे कहा है :—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्॥

अर्थात् गुण कर्म के विभाग से मैंने चारों वर्णों को बनाया है। यों तो मैं अविनाशी हूँ, अकर्त्ता हूँ मुझे कोई जरूरत नही है कि इस पाखण्ड मे पड़ूं लेकिन फिर भी सृष्टि के काम—राष्ट्र के काम—समुचित रूप से चलते रहे, इसी कारण मुझे कर्त्ता बनना पड़ा है।

सो चारों वर्ण एक ही पिता के पुत्र है। उनमे भेद कैसा? भविष्य पुराण मे भी इसी का खुलासा किया गया है :—

चत्वार एकस्य पितुः सुताश्च।
तेषाम् सुताना खलु जातिरेका॥
एव प्रजानां हि पितैक एव।
पित्रैकभावान् न च जातिभेदः॥

भविष्यपुराण

अर्थात् चारो एक ही पिता के पुत्र हैं। (सब राष्ट्र के रखवाले हैं) सब पुत्र एक ही जाति के है। जब सब एक ही पिता के पुत्र हैं, तब उनमे जाति-भेद कैसा?

यही बात श्रीमद्भागवत पुराण में भी कही गई है :—

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः ।
देवो नारायणो नान्यः एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥

श्रीमद्भागवत

अर्थात् पहले सिर्फ एक वेद था, सम्पूर्ण साहित्य सिर्फ एक प्रणव ओंकार मे ही आ जाता था, सिर्फ एक नारायण ईश्वर था, एक ही अग्नि था, और एक ही वर्ण था। इसके सिवाय और कोई भेद नही था। मनुष्यो मे राष्ट्रकार्य की सुविधा के लिए जब चार कर्मो की कल्पना हुई, तब चार वर्ण बने। महाभारत मे भी यही कहा :—

न विशेषोऽस्ति वर्णाना सर्वं ब्राह्ममिद जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्ट हि कर्मभिर्वर्णता गतम् ॥

महाभारत

अर्थात् वर्णों मे कोई विशेषता नहीं, सारा ससार परमात्मा का रचा हुआ है। कर्म के कारण से चार वर्णों की सृष्टि हुई है।

अव अधिक लिखना आवश्यक नही है। आजकल तो चार वर्ण की जगह पॉच वर्ण तक हो गये है—और एक वर्ण अन्त्यज कहलाकर अस्पृश्य भी माना जाता है। यह वडा भारी पाप है। अन्य भी हजारों जातिभेद उत्पन्न हो गये है जिनसे राष्ट्र की एकता छिन्नभिन्न हो गई है। शत्रु इससे लाभ उठाकर हमको और हमारे धर्म को और भी वरबाद कर रहे है। हम पूछते है कि यह पञ्चम वर्ण, और जातियों के हजारों भेद, कहॉ से आये ? यह सव हमारी मूर्खता और अज्ञानता का फल है। मनुजी ने कहा है :—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः त्रयो वर्णा द्विजातय. ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पचम ॥

मनु०

अरे, चार तो वर्ण ही है पाँचवाँ अपनी मूर्खता और अज्ञानता से क्यों ले आये। संसार मे गोघातक को छोड़कर, और कोई भी कार्य करने वाला मनुष्य अस्पृश्य नहीं है। शूद्र तो हमारा अङ्ग है। उसको शौच से रहना सिखलाओ, स्वय भी धर्म के अगों को धारण करो। ये आप ही धार्मिक वन जायँगे। सब मिलकर अपने देश और धर्म के हित की ओर देखो। अपनी फूट को मिटाओ। शत्रुओं को उससे लाभ उठाने का मौका न दो।

— ०.—

चार आश्रम

साधारण तौर पर मनुष्य की अवस्था सौ वर्ष की मानी गई है। "शतायुव पुरुष" ब्राह्मण ग्रन्थों का वचन है। महर्षियों ने इस सौ वर्ष की अवस्था को चार विभागों मे विभाजित किया है। उन्हीं चार भागों को आश्रम कहते हैं। आश्रमों की आवश्यकता इस कारण से है, कि जिससे मनुष्य अपने इस लोक और पर-लोक के सब कर्त्तव्यों को नियमानुसार करे ऐसा न हो कि एक ही प्रकार के कार्य मे जिन्दगी भर लगा रहे। प्रत्येक आश्रम के कर्त्तव्य २५-२५ वर्ष मे बॉट दिये हैं। महाकवि कालिदास ने चारों आश्रमो के कर्त्तव्य, संक्षिप्त रूप से, बड़ी सुन्दरता के साथ, एक श्लोक मे बतला दिये हैं :—

शैशवेऽभ्यस्तविद्याना यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीना योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

प्रथम २५ वर्ष तक शैशवावस्था रहती है। इसमे विद्याध्ययन करना चाहिये। दूसरी यौवनावस्था है। इसमे सांसारिक विषयों का कर्त्तव्य पालन करना चाहिये। इसके बाद बुढ़ापा शुरू हो जाता है। इस अवस्था मे मुनिवृत्ति से रहकर परमार्थ का मनन करना चाहिये। इसके बाद अन्त के २५ वर्षों मे योगाभ्यास करके शरीर छोडना चाहिये। इस नियम से यदि जीवन व्यतीत किया जायगा, तो मनुष्य जीवन के चारो पुरुषार्थ, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सहज मे सिद्ध हो सकेगे।

ऋषियों ने इन चारों आश्रमो के नाम इस प्रकार रखे हैं :—
(१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ, (४) संन्यास।

अब इन चारों आश्रमों का क्रमशः संक्षेप मे वर्णन किया जाता है :—

ब्रह्मचर्य

'ब्रह्म' कहते है विद्या या ईश्वर को इसलिए विद्याभ्यास अथवा ईश्वर के लिये जिस व्रत का आचरण किया जाता है, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह व्रत साधारणतया पुरुषों को २५ वर्ष की अवस्था तक और स्त्रियों को १६ वर्ष की अवस्था तक पालन करना चाहिये। यह नियम उन लोगों के लिये है, जो आगे चल कर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करना चाहते हैं और जो जीवनपर्यन्त ब्रह्मचारी रहना चाहते हैं, उनकी बात अलग है।

ब्रह्मचर्य का खास कर्त्तव्य यह है कि ईश्वर भक्ति के साथ सब इन्द्रियों का सयम करके एक विद्याभ्यास मे ही अपना पूरा ध्यान लगा दे। विशेषकर वीर्य की रक्षा करते हुये सब विद्याओं का अध्ययन करे। वीर्यरक्षा का महत्व अलग एक पाठ मे बतलाया गया है। इसलिये यहाँ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो वास्तव मे हम सिर्फ ब्रह्मचारियों के कर्त्तव्य का थोडा सा वर्णन करेंगे।

ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों के बालकों का क्रमशः ५, ६ और ७ वर्ष की अवस्था मे उपनयन सस्कार कराके वेदारम्भ करा दे शूद्रों को भी ब्रह्मचर्य द्वारा विद्याभ्यास करावे। उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष की अवस्था तक का होता है। इसको धारण करने वाला आदित्य ब्रह्मचारी कहलाता है। इसके मुख पर सूर्य के समान कांति झलकती है। मध्यम ब्रह्मचर्य ४४ वर्ष की उम्र तक होता है, इसको रुद्र कहते है। वह ऐसा शक्तिशाली होता है, कि सज्जनों की दुष्टो से रक्षा करता है, और दुष्टों को दण्ड देकर रुलाता है। निकृष्ट

ब्रह्मचर्य २५ वर्ष तक की अवस्था का कहलाता है। इसको वसु कहते है। इससे भी उत्तम गुणों का हृदय मे वास होता है। इसलिए आजकल कम से कम २५ वर्ष की अवस्था तक पुरुषों को और १६ वर्ष की अवस्था तक स्त्रियों को अखंडवीर्य रहकर विद्याभ्यास अवश्य ही करना चाहिए। इसके बाद गृहस्थाश्रम को स्वीकार करना चाहिये।

बालक और बालिकाएँ अलग-अलग अपने-अपने गुरुकुलों मे विद्याभ्यास करें। अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी रहे, तब तक परस्पर स्त्री-पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, सम्भाषण, विषय-कथा, परस्पर क्रीडा, विषय का ध्यान, और परस्पर संग, इन आठ प्रकार के मैथुनो का त्याग करे। स्वप्न में भी वीर्य को न गिरने दे। जब विषय का ध्यान ही न करेंगे, तो स्वप्न मे भी वीर्य कैसे गिरेगा। आजकल पाठशालाओं मे बालकगण हस्तक्रिया इत्यादि से वीर्य को नष्ट करके किस प्रकार अपने जीवन को बरबाद करते हैं, सो बतलाने की आवश्यकता नही। वीर्य की रक्षा न करने से ही हमारी सन्तान की ऐसी अधोगति हो रही है। हमारे देश से शूरता-वीरता नष्ट हो गई है और सन्तान बिलकुल निर्बल तथा निकम्मी पैदा होती है। अध्यापको और गुरुओं को चाहिये कि वे स्वयं सदाचारी ब्रह्मचारी रहकर अपने शिष्यो को विद्वान शूरवीर और निर्भय बनावे। उनको वीर्यरक्षा का महत्व ब र समझाते रहे। अस्तु।

ब्रह्मचारियों को चाहिए कि वे ऐसा कोई कार्य न करें जिससे किसी को कष्ट हो। सत्य का धारण करे। किसी की प्रिय वस्तु को लेने की इच्छा न करे। किसी से कुछ न लेवे। वीर्य की रक्षा की ओर विशेष ध्यान दे। मन और शरीर को शुद्ध रखे। सतोष-वृत्ति धारण करे। सत्कार्यों मे कष्ट सहने की आदत डाले,

बराबर पढ़ते और अपने सहपाठियों को पढ़ाते रहे। परमात्मा की भक्ति अपने हृदय से कभी न टलने दें। गुरु पर पूर्ण श्रद्धा रखे। वृद्धों की सेवा अवश्य करते रहे। परस्पर मधुर भाषण करे। एक दूसरे का हित चाहते रहे। विद्यार्थी को सब प्रकार के सुख त्याग देने चाहिए। विदुरनीति मे कहा है :—

सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिन सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्या विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम्॥

विदुरनीति

अर्थात् सुख चाहने वाले को विद्या कहाँ, और विद्या चाहने वाले को सुख कहाँ? (दोनों मे बड़ा भेद है) इसलिए जो सुख की परवाह करे, तो विद्या पढ़ना छोड दे, और यदि विद्या पढ़ने की चाह हो तो सुख को छोड दे।

आजकल के हमारे कालेज और स्कूलों के विद्यार्थी, जो ऐश-आराम मे रहकर विद्या पढ़ते है उनकी विद्या सफल नहीं होती और न देश के लिए लाभकारी होती है, इसका कारण यही है कि उनमे कष्ट सहिष्णुता का भाव नही होता, और उनको सच्ची कार्यकारिणी विद्या नहीं पढ़ाई जाती है। सिर्फ पुस्तकी विद्या पढ़कर रोटियों की फिक्र मे पड जाते है ऐसी विद्या का त्याग करके प्राचीन ऋषिमुनियों के उपदेश के अनुसार सच्ची विद्या का अभ्यास करना चाहिये। मनुजी ने ब्रह्मचारी के लिये निम्नलिखित नियमों के पालन करने का उपदेश दिया है :—

वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्ध माल्य रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिना चैव हिंसनम्॥
अभ्यगमजन चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
काम क्रोध च लोभ च नर्तनं गीतवादनम्॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥

मनु०

मद्य, मांस, इतर-फुलेल, माला, रस-स्वाद, स्त्री-संग, सब प्रकार की खटाई, प्राणियों को कष्ट देना, अंगों का मर्दन, बिना निमित्त उपस्थेन्द्रीय का स्पर्श, आँखों मे अंजन, जूते और छाते का धारण, काम, क्रोध, लोभ, नाच, गाना, बजाना, जुआ, दूसरे की बात कहना, किसी की निन्दा मिथ्याभाषण, स्त्रियों की ओर देखना किसी का आश्रय चाहना, दूसरे की हानि इत्यादि कुकर्मों को ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी सदैव त्यागे रहे। सदा अकेले सोवें। कभी वीर्य को स्खलित न करे यदि वे कभी जान बूझकर वीर्य को स्खलित कर देगे, तो मानो ब्रह्मचर्य व्रत का सत्यानाश करेगे।

महर्षि मनु की विद्यार्थियों के लिए अमूल्य शिक्षा है। इस प्रकार के नियमो का पालन कर के जो स्त्री और पुरुष विद्याभ्यास करते है, वे विद्वान शूरवीर, देशभक्त और परोपकारी बनकर अपना मनुष्य जीवन सार्थक करते है।

तैत्तरीय उपनिषद् मे गुरु के लिए भी लिखा हुआ है कि वह अपने शिष्यों को किस प्रकार का उपदेश करे। उसका साराश नीचे दिया जाता है।

गुरु अपने शिष्यों और शिष्याओं को इस प्रकार का उपदेश करे :—

तुम सदा सत्य बोलो। धर्म पर चलो। पढ़ने-पढ़ाने मे कभी आलस्य न करो। पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओ का अध्ययन

कर के अपने गुरु का सत्कार करो। और फिर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करके सन्तानोत्पादन अवश्य करो। सत्य में भूल न करो। धर्म मे भी कभी आलस्य न करो। आरोग्यता की ओर ध्यान रखो सावधानी कभी न छोडो। धन, धान्य इत्यादि ऐश्वर्य की वृद्धि में कभी न चूको। पढ़ने-पढ़ाने का काम कभी न छोड़ो। साधुओ, विद्वानों और गुरुजनों की सेवा मे न चूको। माता, पिता, आचार्य और अतिथि को देवता के समान पूजा करो। उनको सन्तुष्ट रखो। जो अच्छे कार्य है उन्ही को सदा करो। बुरे कर्मो को छोड़ दो और (गुरु कहता है) हमारे भी जो सुचरित्र है, धर्माचरण है, उन्हीं को तुम ग्रहण करो औरों को नहीं। हम लोगों मे जो श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष है, उन्ही के पास वेठो उठो और उन्ही का विश्वास करो। दान देने मे कभी न चूको। श्रद्धा से, अश्रद्धा से, नाम के लिये, लज्जा के कारण, भय के कारण अथवा प्रतिज्ञा करली है, इसी कारण—मतलव, जिस तरह से हो, दो—देने मे कभी न चूको, यदि कभी तुमको किसी कार्य मे, अथवा किसी आचरण मे कोई शंका हो तो विचारशील पक्षपात रहित साधु महात्मा, विद्वान, दयालु धर्मात्मा पुरुषों के आचरण को देखो, और जिस प्रकार उनका वर्ताव हो वैसा ही वर्ताव तुम भी करो। यही आदेश है। यही उपदेश है। यही वेद उपनिषद् की आज्ञा है। यही शिक्षा है। इसी को धारण करके अपना जीवन सुधारना चाहिये।

विद्यार्थियो और ब्रह्मचारियों के लिये इससे अधिक अमृत तुल्य शिक्षा और क्या हो सकती है। हमारे देश के वालक और युवा यदि इसी प्रकार की शिक्षा पर चलकर, २५ वर्ष की अवस्था तक, विद्याध्ययन करके तव संसार मे प्रवेश किया करें, तो देश में फिर से पहले की भाँति स्वतन्त्रता आ सकती है। क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम ही अन्य आश्रमों की जड़ है, इसकी

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥

मनु०

मद्य, मांस, इतर-फुलेल, माला, रस-स्वाद, स्त्री-संग, सब प्रकार की खटाई, प्राणियों को कष्ट देना, अंगों का मर्दन, बिना निमित्त उपस्थेन्द्रीय का स्पर्श, आँखों मे अंजन, जूते और छाते का धारण, काम, क्रोध, लोभ, नाच, गाना, बजाना, जुआ, दूसरे की बात कहना, किसी की निन्दा मिथ्याभाषण, स्त्रियों की ओर देखना किसी का आश्रय चाहना, दूसरे की हानि इत्यादि कुकर्मो को ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी सदैव त्यागे रहे। सदा अकेले सोवें। कभी वीर्य को स्खलित न करे यदि वे कभी जान बूझकर वीर्य को स्खलित कर देगे, तो मानो ब्रह्मचर्य व्रत का सत्यानाश करेंगे।

महर्षि मनु की विद्यार्थियों के लिए अमूल्य शिक्षा है। इस प्रकार के नियमों का पालन कर के जो स्त्री और पुरुष विद्याभ्यास करते है, वे विद्वान शूरवीर, देशभक्त और परोपकारी बनकर अपना मनुष्य जीवन सार्थक करते हैं।

तैत्तरीय उपनिषद् मे गुरु के लिए भी लिखा हुआ है कि वह अपने शिष्यों को किस प्रकार का उपदेश करे। उसका साराश नीचे दिया जाता है।

गुरु अपने शिष्यों और शिष्याओ को इस प्रकार का उपदेश करे :—

तुम सदा सत्य बोलो। धर्म पर चलो। पढ़ने-पढ़ाने मे कभी आलस्य न करो। पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं का अध्ययन

कर के अपने गुरु का सत्कार करो। और फिर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करके सन्तानोत्पादन अवश्य करो। सत्य में भूल न करो। धर्म मे भी कभी आलस्य न करो। आरोग्यता की ओर ध्यान रखो सावधानी कभी न छोडो। धन, धान्य इत्यादि ऐश्वर्य की वृद्धि मे कभी न चूको। पढ़ने-पढ़ाने का काम कभी न छोड़ो। साधुओं, विद्वानों और गुरुजनों की सेवा में न चूको। माता, पिता, आचार्य और अतिथि को देवता के समान पूजा करो। उनको सन्तुष्ट रखो। जो अच्छे कार्य है उन्ही को सदा करो। बुरे कर्मो को छोड़ दो और (गुरु कहता है) हमारे भी जो सुचरित्र हैं, धर्माचरण हैं, उन्ही को तुम ग्रहण करो औरों को नही। हम लोगों मे जो श्रेष्ठ विद्वान् पुरुप है, उन्ही के पास बैठो उठो और उन्ही का विश्वास करो। दान देने मे कभी न चूको। श्रद्धा से, अश्रद्धा से, नाम के लिये, लज्जा के कारण, भय के कारण अथवा प्रतिज्ञा करली है, इसी कारण—मतलब, जिस तरह से हो, दो—देने मे कभी न चूको, यदि कभी तुमको किसी कार्य मे, अथवा किसी आचरण मे कोई शंका हो तो विचारशील पक्षपात रहित साधु महात्मा, विद्वान, दयालु, धर्मात्मा पुरुषों के आचरण को देखो, और जिस प्रकार उनका वर्ताव हो वैसा ही वर्ताव तुम भी करो। यही आदेश है। यही उपदेश है। यही वेद उपनिषद् की आज्ञा है। यही शिक्षा है। इसी को धारण करके अपना जीवन सुधारना चाहिये।

विद्यार्थियों और ब्रह्मचारियो के लिये इससे अधिक अमृत तुल्य शिक्षा और क्या हो सकती है। हमारे देश के बालक और युवा यदि इसी प्रकार की शिक्षा पर चलकर, २५ वर्ष की अवस्था तक, विद्याध्ययन करके तब संसार मे प्रवेश किया करे, तो देश मे फिर से पहले की भॉति स्वतन्त्रता आ सकती है। क्योकि ब्रह्मचर्य आश्रम ही अन्य आश्रमों की जड़ है, इसकी

ओर ध्यान न रहने से अगले अन्य तीनों आश्रमों की भी दुर्दशा हो रही है।

गृहस्थ

जिस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम सब आश्रमों की जड़ है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम सब आश्रमों का आश्रय-स्थान है। इसी आश्रम को ऋषियों ने सब से श्रेष्ठ बतलाया है। महर्षि मनु ने इसका महत्व वर्णन करते हुये कहा है :—

> यथा नदी नदः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
> तथैव आश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ १॥
> यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
> तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ २॥
> यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्।
> गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥ ३॥
> स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
> सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥ ४॥
>
> मनु०

अर्थात् जैसे सब नदी नद समुद्र में जाकर आश्रय पाते हैं उसी प्रकार सब आश्रमों के लोग गृहस्थ आश्रम में आकर आश्रय पाते है॥ १॥ जैसे वायु का आश्रय लेकर सारे प्राणी वर्तते हैं। उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय लेकर सब आश्रम वर्तते है॥ २॥ ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी तीनों आश्रमो वाले लोगो को गृहस्थ ही अपने दान, अन्नादि से धारण करता है, इस से गृहस्थ ही सब आश्रमो में श्रेष्ठ अर्थात् धुरन्धर है॥ ३॥ इस-लिये जो मनुष्य मोक्ष और सांसारिक सब सुखों की इच्छा रखता हो उसको बड़े प्रयत्न के साथ गृहस्थ आश्रम धारण

करना चाहिये। क्योंकि यह आश्रम दुर्बलेन्द्रिय-अर्थात् कमजोर लोगों के धारण करने योग्य नही ॥ ४ ॥

महर्षि मनु का पिछला वाक्य आजकल के लोगों को खूब समझ लेना चाहिये, क्योंकि यदि ब्रह्मचर्याश्रम का अच्छी तरह पालन नही किया है—अपने शरीर और मन को खूब बलवान नही बनाया है, और सांसारिक व्यवहारो को समुचित रूप से चलाने का सामर्थ्य, तथा विद्याबल, नही प्राप्त किया है तो गृहस्थ आश्रम के धारण करने मे दुर्गति ही है। ऐसी दशा मे न तो शूरवीर और बुद्धिमान सन्तान ही उत्पन्न हो सकती है, और न गृहस्थी का बोझ सम्हालकर अन्य आश्रमों की सेवा ही की जा सकती है। कमजोर कधे इतना भारी बोझ कैसे सम्हाल सकते है।

इसलिए हमारे देश के सब नवयुवक और नवयुवतियों को पहले ब्रह्मचर्याश्रम का यथाविधि पालन करके तब विवाह करके गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करना चाहिए। विवाह करते समय इस बात का ध्यान रहे कि वर-वधू का जोड़ा ठीक रहे। दोनो सद्गुणी, विद्वान, बलवान ब्रह्मचारी और गृहस्थी का भार सम्हालने योग्य हों। विवाह का मतलब इन्द्रिय-सुख नहीं है, किन्तु शूरवीर और परोपकारी सन्तान उत्पन्न करके देश का उपकार करना है। इसलिए जब पति-पत्नी दोनों सुयोग्य होगे तभी गृहस्थाश्रम मे वे स्वयं सुखी रह सकेंगे और अपने देश का उपकार भी कर सकेंगे। महर्षि मनु ने कहा है :—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्य कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

मनु०

अर्थात् जिस कुल मे स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल मे निश्चित रूप से कल्याण रहता है। वही कुल धन-दौलत, सुख-आनन्द, यश नाम पाता है। और जहाँ दोनों मे कलह और विरोध रहता है, वहाँ दुख दरिद्रता, निन्दा निवास करती है। इसलिए विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर इत्यादि सब बातों का विचार करके ब्रह्मचारिणियो का परस्पर विवाह होना चाहिये। अथर्ववेद मे कहा है :—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवान विन्दते पतिम् ।

अथर्व०

अर्थात् कन्या भी यथाविधि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके अर्थात् संयम से रह कर विद्याभ्यास करके—अपने योग्य युवा पति के साथ विवाह करं। स्त्री को सोलह वर्ष के पहले और पुरुष को पच्चीस वर्ष से पहले अपने रज और वीर्य को किसी दशा मे भी, बाहर न निकलने देना चाहिये। विवाह के बाद गर्भाधान संस्कार की अवस्था यही बतलाई गई है। सुश्रुत मे लिखा है :

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥

अर्थात् २५ वर्ष से कम उम्रवाला पुरुष यदि सोलह वर्ष मे कम उम्रवाली स्त्री मे गर्भाधान करता है, तो वह गर्भ पेट मे ही निरापद नही रहता। अर्थात् गर्भपात हो जाता है, और यदि बच्चा पैदा भी होता है, तो जल्दी मर जाता है और यदि जिन्दा भी रहता है तो दुर्बलेन्द्रिय और पृथ्वी का भार होकर जीता है। आज कल ब्रह्मचर्य का ठीक-ठीक पालन न होने के कारण हमारे देश की सन्तान की यही दशा हो रही है।

अस्तु। गृहस्थाश्रम मे आकर मनुष्य को धर्म के साथ, अपने-अपने वर्णानुसार कर्तव्यों का पालन करना चाहिये। गृहस्थी मे रह कर भी पुरुप को ब्रह्मचारी की ही तरह रहना चाहिये। आप कहेगे कि गृहस्थ कैसा ब्रह्मचारी ? इस प्रश्न का उत्तर मनुजी ने दिया है :—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैना तद् व्रतो रतिकाम्यया॥
निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥

मनु०, अध्याय ३

इसका साराश यह है कि, जो पुरुष सदा अपनी ही स्त्री से प्रसन्न रहकर ऋतुगामी होता है और गर्भ रहने के बाद तथा सन्तान उत्पन्न होने पर भी बच्चा जब तक माता का स्तन पान करता रहे तब तक स्त्री को बचाता है, और गर्भ रहने के बाद फिर स्त्री को बचाता है वह गृहस्थ होकर भी ब्रह्मचारी ही के समान है। जितने ऋषि मुनि और महापुरुष गृहस्थाश्रमी हुये हैं, वे सब इसी प्रकार से रहत थे। पुरुषो को अपने घर मे स्त्रियों के साथ कैसा वर्त्ताव करना चाहिए, इस विपय मे महर्षि मनु का उपदेश अमूल्य है :—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सम्पदा॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्य　　सत्कारेषूत्सवेषु　च ॥

मनु०

अर्थात् जो पिता, भाई, पति और देवर अपने कुल का सुन्दर कल्याण चाहते हों, वे अपनी लड़कियों, बहिनों, पत्नियों और भौजाइयों को सत्कारपूर्वक भूषणादि सब प्रकार से, प्रसन्न रखे, क्योंकि जहाँ स्त्रियाँ प्रसन्न रखी जाती है, वहाँ देवता रमते है—सब प्रकार से सुख रहता है, और जहाँ वे प्रसन्न नहीं रखी जाती वहाँ कोई काम सफल नही होता । जिस कुल मे स्त्रियाँ दुखी रहती हैं, वह कुल शीघ्र ही नाश हो जाता है, और जहाँ वे सुखी रहती है, वहाँ सुखसम्पदा बढ़ती रहती है । इसलिये जो लोग अपने घर का ऐश्वर्य चाहते है, उनको उचित है कि, वे वस्त्र-आभूषण और भोजन इत्यादि से इनको सदैव प्रसन्न रखे । तिथि-त्यौहार और उत्सवों पर इनका खास तौर पर सत्कार किया करे ।

मनुजी की इस शिक्षा को प्रत्येक मनुष्य गाँठ मे बाँध ले, तो उसका कल्याण क्यों न हो ?

स्त्रियो का कर्तव्य भी मनुजी ने बहुत सुन्दर बतलाया है । आप कहते हैं :—

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमासन्न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात्पुनः पुसः प्रजन न प्रवर्त्तते ॥
स्त्रिया तु रोचमानाया सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्या त्वरोचमानाया सर्वमेव न रोचते ॥

मनु०

अर्थात् यदि स्त्री अपने पति से प्रेम न करेगी, उसको प्रसन्न

न रखेगी, तो दुःख और शोक के मारे उसका मन उल्लसित न होगा, और न काम उत्पन्न होगा। (ऐसी ही दशा मे पुरुषों का चित्त स्त्रियों से हट जाता है, और कोई कोई पुरुष दुराचारी भी हो जाते है) स्त्रियों के स्वयं प्रसन्न रहने—और सब के प्रसन्न रखने—से ही सब घर-भर प्रसन्न रहता है, और उनकी अप्रसन्नता मे सब दुःखदायक मालूम होता है। इसलिये मनुजी कहते हैं कि :—

सदा प्रहृष्टया भाव्य गृहकार्येषु दक्षया।
सुसस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥

मनु०

स्त्री को सदा प्रसन्न रहना चाहिये, और घर का काम खूब दक्षतापूर्वक करना चाहिये। सब सामान, जहाँ का तहाँ सफाई के साथ, रखना चाहिए, और खर्च हाथ सम्हाल कर करना चाहिए।

स्त्रियों के बिगडने के छः दूषण मनुजी ने बतलाए है उनसे स्त्रियों को बचना चाहिए। पुरुषों को उचित है कि इन दूषणों मे अपने घर की स्त्रियों को न फँसने दे :—

पान दुर्जनससर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नान्यगेहवासश्च नारीसन्दूषणानि षट् ॥

मनु०

अर्थात् मद्य, भङ्ग इत्यादि मादक द्रव्यों का पीना, दुष्ट पुरुषों का संग, पतिवियोग, अकेले जहाँ-तहाँ घूमते रहना तथा पराए घर मे जाकर शयन करना, ये छः दूषण स्त्रियों को बिगाड़ने वाले हैं। स्त्री, और पुरुषों को भी, इनसे बचना चाहिए।

मनुष्य मात्र के धर्म-कर्त्तव्यों का ही इस पुस्तक मे सर्वत्र

वर्णन किया गया है। इसमे से अधिकांश गृहस्थ के लिये है। फिर भी 'दाम्पत्यधर्म' पर एक अध्याय स्वतंत्ररूप से अन्यत्र दिया गया है। इसलिए यहाँ इस विषय मे विशेष लिखने की आवश्यकता नही। एक कवि ने गृहस्थाश्रम की धन्यता का वर्णन करते हुए एक श्लोक कहा है, उसको लिख देना प्रर्याप्त होगा :—

सानन्द सदन सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी।
सन्मित्र सुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः ॥
आतिथ्य शिवपूजन प्रतिदिनमिष्टान्नपान गृहे।
साधोः सगसुपासते हि सतत धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥

अर्थात् आनन्दमयी घर है, पुत्री इत्यादि बुद्धिमान है, स्त्री मधुरभाषिणी है, अच्छे-अच्छे मित्र है, सुन्दर धन-दौलत है, अपनी ही स्त्री से, और अपने पुरुष से प्रीति है, अर्थात् स्त्री-पुरुष व्यभिचारी नहीं है, नौकर लोग आज्ञाकारी है, अतिथि अभ्यागत का नित्य सत्कार होता रहता है, परमेश्वर की भक्ति मे सब लगे है, सुन्दर-सुन्दर भोजन खाते-खिलाते है, साधुओ और विद्वानो का सत्संग करके सदैव उनसे सुन्दर उपदेश ग्रहण करते रहते है। ऐसा जो गृहस्थाश्रम है, उसको धन्य है। वही स्वर्ग है। प्रत्येक गृहस्थ को उपर्युक्त कर्त्तव्य पालन करके अपनी गृहस्थी को स्वर्गधाम वनाना चाहिए।

वानप्रस्थ

गृहस्थाश्रम सव आश्रमो का आश्रयदाता है, परन्तु यही तक मनुष्य का कर्तव्य समाप्त नहीं है। इसके बाद वानप्रस्थ और संन्यास दो आश्रम और है, जिनमे मनुष्य को अगले जन्म की तैयारी विशेष रूप से करनी पडती है। परोपकार करते हुए ईश्वर का अखण्ड चिन्तन करते रहना ही मनुष्य के उत्तरार्द्ध

जीवन का कर्त्तव्य है। इसके बिना उसका जीवन सार्थक नही हो सकता। शतपथ ब्राह्मण मे कहा है:—

ब्रह्मचर्याश्रम समाप्य गृही भवेत।
गृही भूत्वा वनी भवेत।
वनी भूत्वा प्रव्रजेत्॥

शतपथ ब्राह्मण

अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम को समाप्त करके गृहस्थाश्रम धारण करो, गृहस्थाश्रम का कर्तव्य करके, जंगल को चले जाओ, और जगल मे बसने के बाद अन्त मे परिव्राजक संन्यासी बनो। वानप्रस्थ आश्रम कब ग्रहण करना चाहिये, इस विषय मे मनुजी कहते हैं :—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्य तदारण्यं समाश्रयेत्॥

मनु०

अर्थात् गृहस्थ जब देखे कि हमारे बाल पक गये, और शरीर की खाल ढीली पड़ने लगी, तथा सन्तान के भी सन्तान (नाती-नातिन) हो चुकी, तब वह घर छोड़कर वन मे जावे, और वहाँ वानप्रस्थ के नियमों से रहे, वे नियम मनुजी ने इस प्रकार बतलाये है :—

सत्यज्य ग्राम्यमाहार सर्वं चैव, परिच्छदम्।
पुत्रे च भार्यां निःक्षिप्य वन गच्छेत्सदैव वा॥
अग्निहोत्र समादाय गृह्य चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्य नि सृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम्॥

मनुस्मृति

घर और गाँव के सब उत्तमोत्तम भोजनों और वस्त्रों को छोड कर, स्त्री को पुत्रो के पास रखकर, अथवा यदि सम्भव हो, तो अपने साथ लेकर बन मे चला जाय। वहाँ अग्निहोत्र इत्यादि धर्म-कर्मों को करते हुए, इन्द्रियों को अपने वश मे रखते हुए, निवास करे। पसाई के चावल, रामदाना, नाना प्रकार के शाक फल, मूल, इत्यादि फलाहारी पदार्थों से पञ्चमहायज्ञों को करे, और यज्ञो से बचा हुआ पदार्थ स्वयं सेवन करके मुनिवृत्ति से रहे। परमात्मा का सदैव चिन्तन करता रहे।

इसके सिवाय वानप्रस्थ के और भी कुछ कर्तव्य हैं, और वे है परोपकार-सम्बन्धी, क्योंकि परोपकार मनुष्य से किसी आश्रम मे भी छूटता नहीं है। महर्षि मनु कहते है :—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥

मनु०

स्वाध्याय, अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने मे सदा लगा रहता है। इन्द्रियों और मन को सब प्रकार जीतकर अपनी आत्मा को वश मे कर लेता है। संसार का मित्र बन जाता है। इन्द्रियों को चारो ओर से खीच कर ईश्वर और ससार के हित मे लगा देता है। विद्यादानादि से जंगल के निवासियो का हित करता है, और ग्राम के जिन लोगो से सम्पर्क रहता है, उनको भी विद्यादानादि से लाभ पहुँचाता है। सब प्राणियों पर दया करता है अपने सुख के लिये कोई भी प्रयत्न नही करता। ब्रह्मचर्यव्रत का धारण करता है। अर्थात् यदि अपनी स्त्री भी साथ मे रहती है, तो उससे

भी कोई कामचेष्टा नही करता। पृथ्वी पर सोता है। किसी से मोह-ममता नही रखता। सब को समान दृष्टि से देखता है। वृक्ष के नीचे झोपडी मे रहता है।

मुण्डकोपनिषद् मे वानप्रस्थ आश्रम धारण करनेवाले के लिए बतलाया गया है :—

तपःश्रद्धे येह्यु पवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्य्यां चरन्तः।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजः प्रयान्ति यत्राऽमृतसः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥
मुण्डकोपनिषद्

अर्थात् जो शान्त विद्वान् लोग सत्कर्मानुष्ठान करते हुए, स्वय कष्ट सहकर परोपकार करते हुए, भिक्षा से अपना निर्वाह करते हुए वन मे रहते हैं, वे निर्मल होकर, प्राणद्वार से, उस परम पुरुष, अविनाशी परमात्मा को प्राप्त करके आनन्दित होते हैं।

आजकल प्रायः लोग गृहस्थाश्रम मे ही बेतरह फँसे हुये मृत्यु को प्राप्त होते है—निश्चिन्त होकर परोपकार और ईश्वर चिन्तन मे अपना कुछ भी समय नहीं देते। इससे पुनर्जन्म मे उनको आनन्द प्राप्त नहीं होता। इसलिये महर्षि ने गृहस्थ के बाद दो आश्रमों का विधान करके—आधी आयु परोपकार और ईश्वर-चिन्तन मे बिताने का आदेश करके—मनुष्य की परम उन्नति का द्वार खोल दिया है। सब लोगों को इस आदेश पर चल कर लोक-परलोक सुधारना चाहिये।

संन्यास

यह मनुष्य का अन्त का आश्रम है। इसके विषय मे महर्षि मनु कहते है :—

वनेषु च विहृत्यैव तृतीय भागमायुषः ॥
चतुर्थमायुषो भाग त्यक्त्वा सङ्ग परिव्रजेत् ॥

मनु०

अर्थात् आयु का तीसरा भाग बन मे व्यतीत करने के बाद जब चतुर्थ भाग शुरू हो, तब बन को भी छोड़ देवे, और सर्वसङ्ग परित्याग करके—यदि स्त्री साथ मे हो, तो उसको भी छोड़कर—परिव्राजक बन जावे। यों तो परिव्राजक बनने के लिये कोई समय निर्धारित नही है, जब पूर्ण वैराग्य प्राप्त हो जाय, तभी वह सन्यासी हो सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थो का ऐसा ही मत है :—

अर्थात् जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो जाय, उसी दिन—चाहे वह वन मे चाहे घर मे हो—सन्यास ले सकता है—ब्रह्मचर्य आश्रम से ही सन्यास ले सकता है, जैसा कि स्वामी शंकराचार्य, स्वामी दयानन्द इत्यादि ने किया। परन्तु सच्चा वैराग्य होना हर हालत मे आवश्यक है। यह नहीं कि आज कल के बावन लाख साधु सन्यासियो की तरह गृहस्थो का भाररूप हो जाय—उनको ठगकर बड़ी-बड़ी सम्पत्तियाँ एकत्र करे—भोग-विलास मे पड़ा रहे, अथवा चोरी और दुराचार मे पकड़ा जाय। इस प्रकार के सन्यासियों ने ही भारत का नाश कर दिया है। इनको परमात्मा प्राप्त नही हो सकता। कठोपनिषद् मे कहा है :—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

कठ०

अर्थात् जिन्होंने दुराचार इत्यादि बुरे कर्म नही छोड़े। जिनका मन और इन्द्रियाँ शान्त नहीं हुई है, जिनकी आत्मा ईश्वर और परोपकार मे नही लगी हैं, जिनका चित्त सदा विषयों

मे लगा रहता है, वे सन्यास लेकर भी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकते।

इसलिये सन्यासी को उचित है कि अपनी वाणी और मन को अधर्म से रोककर ज्ञान और आत्मा मे लगावे, और फिर उस ज्ञान और आत्मा को एक मे करके—अध्यात्मज्ञान से—उस शान्तरूप परमात्मा मे स्थिर रहे। यही योग है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। अर्थात् सब विषयों से चित्त को खीचकर एक परमात्मा और परोपकार मे उसको स्थिर करना ही योग है। योगी और सन्यासी मे कोई भेद नही है। गीता के छठवे अध्याय मे भगवान कृष्ण ने सन्यासी और योगी के लक्षण तथा उनके कर्त्तव्य विस्तारपूर्वक बतलाये हैं। यहाँ पर विस्तार-भय से हम विशेष नहीं लिख सकते। तथापि निम्नलिखित श्लोक से कुछ कुछ उसका आभास मिल जायगा :—

> अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
> स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
>
> भगवद्गीता

अर्थात् कर्म फल का आश्रय छोडकर जो महात्मा सब धार्मिक कर्मों को बराबर करता रहता है, वही सन्यासी है और वही योगी है। जो लोग कहते हैं कि, अब तो हम सन्यासी हो गये, अब हमको कोई कर्तव्य नहीं रह गया—अग्निहोत्रादि धर्म कार्यों से अब अपने राम को क्या मतलब है! ऐसा कहने वाले साधु-सन्यासी भगवान कृष्ण के उपर्युक्त कथन का मनन करे। भगवान् कहते हैं कि परोपकारादि सब धार्मिक कार्य सन्यासी को भी करना चाहिये, परन्तु उसको फल मे आसक्ति न रखना चाहिये। बिल्कुल अकर्मण्य बनकर अग्निहोत्रादि धर्म-

कार्यों को छोड़कर, बैठने वाला मनुष्य सन्यासी कदापि नहीं हो सकता।

सन्यासी के लिये अपना कुछ नहीं रहता। सारा संसार उसको ईश्वरमय दिखलाई देता है, और वह जो कुछ करता है, ईश्वरप्रीत्यर्थ करता है। सब प्रकार की सांसारिक कामनाओं को वह छोड़ देता है। शतपथ ब्राह्मण मे लिखा है :—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाश्रम-भिक्षाचर्यं चरन्ति।

शतपथ ब्राह्मण

अर्थात् संन्यासी लोग स्त्री-पुत्रादि का मोह छोड देते हैं, धन की उनको कोई परवाह नहीं रहती, यश की उनको चाह नहीं रहती—वे सर्वसंगपरित्याग करके, भिक्षाटन करते हुये, रात दिन मोक्ष साधन मे लगे रहते है।

महर्षि मनु ने भी अपनी मनुस्मृति मे संन्यासी के रहन-सहन और कर्तव्यों का वर्णन करते हुये लिखा है :—

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दडी कुसुम्भवान्।
विचरेन्नियतो नित्य सर्वभूतान्यपीडयन्॥
क्रुध्यन्त न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशल वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृता वदेत्॥
दृष्टिपूतं न्यसेत्पाद वस्त्रपूत जल पिवेत्।
सत्यपूत वदेद्वाच मनःपूत समाचरेत्॥
अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्म्मभिः।
तपश्चरणैश्चोग्रैस्साधयन्तीह तत्पदम्॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सगान् शनैः शनैः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते॥

मनु०

अर्थात् केश, नख, दाढ़ी मूँछ इत्यादि छेदन कराके सुन्दर पात्र और दण्ड तथा कुसुम इत्यादि से रंगे हुये वस्त्र धारण कर, और फिर सब प्राणियो को सुख देते हुये, स्वयं भी आनन्द रूप होकर, विचरण किया करे। जब कही उपदेश अथवा संवाद इत्यादि मे कोई सन्यासी पर क्रोध करे, अथवा उसकी निन्दा करे, तो सन्यासी को उचित है कि आप स्वयं बदले मे उसके ऊपर क्रोध न करे, बल्कि अत्यन्त शान्ति धारण करके उसके कल्याण का ही उपदेश करे, और एक मुख के, दो नासिका के, दो आँखों के और दो कानों के छिद्रों मे बिखरी हुई—सप्तद्वारा-वकीर्ण वाणी को कभी किसी दशा मे भी, मिथ्या बोलने से न लगावे, सन्यासी जब मार्ग मे चले, तब इधर-उधर न देख कर नीचे पृथ्वी पर दृष्टि रखकर चले। सदा वस्त्र से छानकर जल पीवे। सदा सत्य से पवित्र वाणी बोले। सदा मन से विवेक करके, सत्य का ग्रहण करके और असत्य का त्याग करके आच-रण करे। किसी प्राणी को कभी कष्ट न दे, न किसी की हिंसा करे, इन्द्रियो के सब विषयों को त्याग दे वेद मे जो धार्मिक कर्म, विद्यादान, परोपकार, अग्निहोत्रादि बतलाये गये है, उनका यथा-विधि आचरण करे, खूब कठोर तपश्चर्या धारण करे—अर्थात् सत्कर्मों के करने मे खूब कष्ट उठावे, लेकिन दूसरे किसी को उसके कारण कष्ट न होने पावे। इस प्रकार आचरण करके सन्यासी परमपद को पा सकता है। इस प्रकार धीरे-धीरे सब सगदोषों को छोड़ हर्ष-शोक, सुख-दुख हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति शीत-उष्ण, भूख-प्यास इत्यादि जितने द्वन्द्व हैं, उनसे मुक्त होकर, संन्यासी परमात्मा परब्रह्म मे स्थित होता है।

सन्यासी के ऊपर भी बड़ी जिम्मेदारी है—वह स्वयं अपने लिए मोक्ष का आचरण करे, और अपने ऊपर वाले अन्य तीनों

आश्रमों से भी धर्माचरण करावे सब के संशयों को दूर करे सत्य उपदेश से सब को सन्मार्ग पर चलावे। धर्म के दश लक्षण जो मनुजी ने बतलाये हैं, और जिनका इस पुस्तक मे अन्यत्र वर्णन हो चुका है; वे चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लिए बराबर आदरणीय है। मनुजी ने इस विषय मे कहा है :—

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥

मनु०

अर्थात् धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि विवेक, विद्या, सत्य, अक्रोध इन दस लक्षणो से पूर्ण धर्म का आचरण, अत्यन्त प्रयत्न के साथ, चारों ही वर्णों और आश्रमों को करना चाहिये। सन्यासी का यही कर्त्तव्य है कि स्वयं अखंड रूप से परमात्मा मे चित्त रखते हुए, सारे संसार को इस धर्म पर चलने का उपदेश करे।

— — - —

पाँच महायज्ञ तथा सोलह संस्कार

आर्य-हिन्दू जाति के नित्य के धार्मिक कृत्यों मे पाँच महायज्ञ मुख्य हैं। मनु महाराज ने अपनी स्मृति के तीसरे अध्याय मे लिखा है कि प्रत्येक गृहस्थ से पाँच प्रकार की हिंसाएँ प्रति दिन अनायास होती रहती है—(१) चूल्हा, (२) चक्की, (३) झाड़ू (४) ओखली मूसल और (५) घड़ा इत्यादि के द्वारा। सो इन पापों के प्रायश्चित्त के लिये महर्षियों ने पाँच महायज्ञो का विधान किया है। महर्षि मनु ने लिखा है कि जो गृहस्थ पञ्च महायज्ञों का यथाशक्ति त्याग नही करता, वह गृह मे बसता हुआ भी हिंसा के दोषो मे लिप्त नही होता। वे पाँच महायज्ञ इस प्रकार है :—

> ऋषियज्ञ देवयज्ञ भूतयज्ञ च सर्वदा।
> नृयज्ञ पितृयज्ञ च यथाशक्ति न हापयेत्॥
>
> मनु०

अर्थात् (१) ऋषियज्ञ, (२) देवयज्ञ, (३) भूतयज्ञ, (४) नृयज्ञ, (५) पितृयज्ञ, इनको यथाशक्ति छोड़ना न चाहिए। इनको महायज्ञ इसलिए कहा है कि अन्य यज्ञ तो नैमित्तिक हुआ करते हैं, परन्तु ये नित्य के कर्त्तव्य है, और मनुष्य के दैनिक जीवन से इनका गहरा सम्बन्ध है। ये महायज्ञ यदि नित्य विधिपूर्वक श्रद्धा के साथ किये जाते है तो मनुष्य का जीवन उत्तरोत्तर उन्नत और पवित्र होता जाता है, और अन्त मे मोक्ष का अधिकारी होता है।

(१) ऋषियज्ञ

इसको ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत स्वाध्याय और संध्योपासन ये दो कर्म आते हैं। स्वाध्याय के दो अर्थ हैं। एक तो यह कि मनुष्य प्रातःकाल और सायंकाल प्रति दिन कुछ धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन और मनन अवश्य करे। इससे उसके दुर्गुणों का क्षय होगा, और सद्गुणों की वृद्धि होगी। और दूसरा अर्थ "स्वाध्याय" का यह है कि मनुष्य स्वयं अपने आप का अध्ययन सायं-प्रातः अवश्य करे—अपने सद्गुणों और दुर्गुणो का मन से विचार करे तथा दुर्गुणों को छोड़ने और सद्गुणों को बढ़ाने की प्रतिदिन प्रतिज्ञा और प्रयत्न करे। यह, ऋषियज्ञ अथवा ब्रह्मयज्ञ का एक अङ्ग है।

दूसरा अङ्ग सन्ध्योपासन है। इसमे ईश्वर की उपासना मुख्य है। मनु महाराज सन्ध्योपासन का समय बतलाते हुये कहते है :—

पूर्वां सध्या जपस्तिष्ठेत्सावित्रीमर्कदर्शनात्।
पश्चिमा तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्॥

मनु० अ० २

अर्थात् प्रातःकाल मे जब कुछ नक्षत्र शेष रह जावे, तब से लेकर सूर्यदर्शन होने तक गायत्री का जप करते हुये—अर्थ-सहित उसका मनन करते हुये—अपना आसन जमाये रहे, और इसी प्रकार सायंकाल मे सूर्यास्त के समय से लेकर जब तक नक्षत्र खूब अच्छी तरह न दिखाई देने लगे, तब तक बराबर सन्ध्योपासन मे बैठा रहे। सन्ध्या एकान्त मे, खुली हवा मे किसी रमणीक जगह मे, जलाशय के तीर करनी चाहिये। महर्षि मनु कहते हैं कि प्रातः सन्ध्या से रात भर की, और सायंसन्ध्या से दिन भर की दुर्वासनाओं का नाश होता है।

सन्ध्या मे पहले आचमन अङ्गस्पर्श और मार्जन की क्रिया के बाद प्राणायाम किया जाता है। प्राणायाम की सब से सरल रीति यह है कि नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय को ऊपर की ओर सकोचन करते हुये भीतर की वायु को बलपूर्वक बाहर निकाल दे और फिर उसको बाहर ही यथाशक्ति रोके रहे। इसके बाद फिर धीरे-धीरे वायु को भीतर लेकर ऊपर की ओर ब्रह्मरन्ध्र मे उसको यथाशक्ति रोके। बाहर और भीतर वायु को रोकने का कम से कम इतना अभ्यास करना चाहिये कि सन्ध्या का प्राणा-याम-मन्त्र अन्दर ही अन्दर स्थिरता के साथ तीन-तीन बार जपा जा सके। तब एक प्राणायाम होगा। इसी प्रकार के कम से 'कम तीन प्राणायाम तो सन्ध्या में अवश्य करना चाहिये। फिर जितने अधिक कर सकें, उतना ही अच्छा है।

मनु महाराज लिखते है कि जिस प्रकार धातुओं को तपाने से उनका मैल सब बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार प्राणायाम करने से मनुष्य की इन्द्रियों के सारे दोष दूर हो जाते हैं। आरो-ग्यता और आयु बढ़ती है।

प्राणायाम के बाद अघमर्षण के मन्त्रों मे परमात्मा की सृष्टिरचना का वर्णन है, और इस दृष्टि से पाप से निवृत्त रहने का भाव दरशाया गया है। फिर मनसा परिक्रमा और उपस्थान के मन्त्रों मे हम अपने को परमात्मा के निकट होने का अनुभव करते हैं। तत्पश्चात् गायत्री मन्त्र से परमात्मा के सर्व-व्यापी, सर्वशक्तिमान् और तेजस्वी होने का अनुभव करके हम अपनी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने की प्रार्थना करते हैं, और अन्त मे उस सर्व-कल्याण-मूर्ति प्रभु को नमस्कार करके सन्ध्योपासन को समाप्त करते हैं।

यह संध्या का साराश लिखा गया है। संध्योपासन-विधि

की अनेक पुस्तकें छपी है। उनको देखकर और किसी आचार्य गुरु के द्वारा प्राणायाम इत्यादि संध्योपासन की सम्पूर्ण विधि का यथोचित रीति से अभ्यास करना चाहिए।

चाहे हम रेल इत्यादि की यात्रा मे हो, अथवा अन्य किसी स्थिति मे हों पर संध्योपासन कर्म का त्याग न करना चाहिए। जल इत्यादि के उपकरण न होने पर भी परमात्मा की उपासना ठीक समय पर अवश्य कर लेनी चाहिए। उपकरणों के अभाव मे कर्म का ही त्याग कर देना उचित नही।

(२) देवयज्ञ

इसको अग्निहोत्र भी कहते है। यह भी सायं-प्रातः दोनों काल वेदमंत्रों के द्वारा किया जाता है। अग्निहोत्र से जल-वायु इत्यादि शुद्ध होता है। रोगों का नाश होता है।

(३) भूतयज्ञ

इसको बलि वैश्वदेव भी कहते है। भोजन के पहले यह महायज्ञ किया जाता है। पहले मिष्ठान्न इत्यादि की कुछ आहुतियाँ अग्नि मे छोड़ी जाती है। फिर कुत्ता, भंगी, रोगी, कोढ़ी, पापी इत्यादि तथा अन्य पशु-पक्षी, कीट-पतंग इत्यादि को भोजन का भाग देकर उनको सतुष्ट किया जाता है।

(४) नृयज्ञ

इसको अतिथियज्ञ भी कहते है। इससे अतिथि, अभ्यागत, साधु-महात्मा, सज्जन इत्यादि को भोजन वस्त्र, दक्षिणा इत्यादि से सन्तुष्ट करके उनके सत्संग से लाभ उठाते है। "अतिथि-सत्कार" नामक स्वतन्त्र प्रकरण इस पुस्तक मे अन्यत्र दिया गया है।

(५) पितृयज्ञ

माता, पिता, आचार्य इत्यादि तथा अन्य गुरुजनों की नित्य सेवा सुश्रूषा करना, उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके प्रिय कर्मों का आचरण करना पितृयज्ञ कहलाता है।

यही पॉच महायज्ञ हैं, जो गृहस्थ के लिये विशेष कर, और अन्य आश्रमवालों के लिए भी साधारण तौर पर, बतलाए गए हैं। "पंचमहायज्ञविधि" की कई पोथियॉ छप गई है, उनमे इनकी विधियॉ और मत्र इत्यादि दिये गए है, उन्हे देखकर अभ्यास कर लेना चाहिए।

सोलह संस्कार

किसी मामूली वस्तु पर कुछ क्रियाओं का ऐसा प्रभाव डालना कि, जिससे वह वस्तु और भी उत्तम बने, इसी को संस्कार कहते हैं। मनुष्य-जीवन को सुन्दर और उच्च बनाने के लिये हमारे पूर्वज ऋषियों ने जो रीतियॉ बतलाई हैं, उन्ही को सस्कार कहते है। ये धार्मिक क्रियाऍ, मनुष्य के गर्भ मे आने से लेकर मृत्यु पर्यन्त कुल सोलह हैं, और इन्ही को हिन्दू धर्म मे सोलह संस्कार कहते हैं। इन सोलह संस्कारों के करने से मनुष्य का शरीर, मन और आत्मा उच्च तथा पवित्र होता है। ये सोलह संस्कार इस प्रकार है :—

(१) *गर्भाधान*—इसी को निषेक और पुत्रेष्टि भी कहते है। इससं माता-पिता दोनो गर्भ धारण के पहले पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत रखते हैं। ऋतु-दान के कुछ दिन पहले से ऐसी-ऐसी औषधियॉ सेवन करते है कि जिनसे उनका रजवीर्य पुष्ट और पवित्र होता है। इसके बाद दोनों पवित्र और प्रसन्न भाव से गर्भधान करते है।

(२) *पुंसवन*—यह संस्कार गर्भ धारण के बाद तीसरे महीने मे होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिससे गर्भ की स्थिति ठीक ठीक रहे। इसी संस्कार के समय माता-पिता इस बात को भी दर्शाते है कि जब से गर्भ धारण हुआ है, तब से हम दोनों ब्रह्मचर्य व्रत के हैं, और जब तक फिर गर्भ धारण की आवश्यकता न होगी, तब तक बराबर ब्रह्मचर्यव्रत से रहेगे। इस संस्कार के समय भी स्त्री को पुष्टिकारक और पवित्र औषधियाँ खिलाई जाती हैं।

(३) *सीमन्तोन्नयन*—यह संस्कार गर्भ की वृद्धि के अर्थ छठे महीने मे किया जाता है। इसमे ऐसे ऐसे उपाय किये जाते है कि, जिससे गर्भिणी का मन सुप्रसन्न रहे, उसके विचार उत्तम रहे, क्योंकि उन्ही का असर बालक के मस्तिष्क और शरीर पर पड़ता है।

(४) *जातकर्म*—यह संस्कार बालक के उत्पन्न होने पर, नाल छेदने के पहले किया जाता है। इसमे होम-हवन, इत्यादि धर्म-कार्य किये जाते है और बालक की जिह्वा पर सोने की सलाई से 'वेद' लिखा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि, तू विद्वान् बन। तेरी बुद्धि बड़ी हो।

(५) *नामकरण*—यह संस्कार बालक के उत्पन्न होने के ग्यारहवे दिन किया जाता है। इस संस्कार के अवसर पर वालक का नाम रखा जाता है। नाम रखने मे इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि नाम सरस और सरल हो। ब्राह्मण के नाम मे विद्या, क्षत्रिय के नाम मे बल, वैश्य के नाम मे धन और शूद्र के नाम में सेवाभाव का वोध होना चाहिये। स्त्रियों के नाम मे भी मधुरता हो, दो-तीन अक्षर से अधिक न हो, जैसे सीता, सावित्री, लीला, शीला इत्यादि।

(६) *निष्क्रमण*—यह संस्कार बालक के चौथे महीने मे किया जाता है। इसमे बालक को धर्मकृत्यों के साथ घर से बाहर निकालना प्रारम्भ किया जाता है।

(७) *अन्नप्राशन*—यह बालक के छठे मास मे किया जाता है। इस संस्कार के समय बालक को मधु और क्षीर इत्यादि दिया जाता है। इसके बाद वह अन्न-ग्रहण का अधिकारी होता है।

(८) *चूडाकर्म*—इसी को मुँडन संस्कार भी कहते हैं यह प्रायः बालक के तीसरे वर्ष मे होता है। इसमे बालक के गर्भा-वस्था के बाल मूड़ दिये जाते हैं।

(९) *यज्ञोपवीत*—इसी संस्कार को उपनयन या व्रतबन्ध भी कहते हैं। यह संस्कार ब्राह्मण बालक का आठवे वर्ष मे, क्षत्रिय का ग्यारहवे वर्ष मे और वैश्य का बारहवे वर्ष मे होता है। इसी संस्कार के द्वारा बालक ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करके वेदाभ्यास का अधिकारी होता है।

(१०) *वेदारम्भ*—वेद का अध्ययन प्रारम्भ करने के पहले जो धार्मिक विधि की जाती है,उसको वेदारम्भ संस्कार कहते हैं।

(११) *समावर्त्तन*—अध्ययन समाप्त करने पर जब ब्रह्मचारी को स्नातक-पदवी दी जाती है उस समय जो धार्मिक क्रिया होती है, उसी को समावर्त्तन कहते हैं।

(१२) *विवाह*—सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से जब मनुष्य अपने ही समान कुलशीलवती स्त्री का पाणिग्रहण करता है, उस समय की धार्मिक विधि को विवाह-संस्कार कहते हैं।

(१३) *गार्हपत्य*—जब मनुष्य गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करके अपने घर मे धर्मविधियों के साथ अग्नि की स्थापना करता है, उस समय यह संस्कार किया जाता है, और तभी से गृहस्थ धर्म के

पंचमहायज्ञ इत्यादि कर्म वह अपनी पत्नी के साथ करने लगता है।

(१४) *वानप्रस्थ*—गृहस्थ का कर्त्तव्य पालन करके जब मनुष्य आयु के तीसरे भाग मे धर्म और मोक्ष की साधना के लिये वन को जाता है, उस समय यह संस्कार किया जाता है।

(१५) *सन्यास*—आयु के चौथे भाग मे जब मनुष्य ईश्वर-चिन्तन करते हुए केवल मोक्ष की साधना मे लगना चाहता है, और सब प्राणियों पर समदृष्टि रख कर जनहित को अपना एक-मात्र उद्देश्य रखना चाहता है, तब जो विधि की जाती है, उनको संन्यास-संस्कार करते है।

(१६) *अन्त्येष्ठि*—यह अन्तिम संस्कार मनुष्य के मर जाने पर किया जाया है। इसमे उसका शव एक कुण्ड मे वैदिक विधि से हवन के साथ जलाया जाता है। यह अंतिम यज्ञ है। इसीलिए इसका नाम अन्त्येष्टि है।

उपर्युक्त सोलह मुख्य-मुख्य संस्कारों के अतिरिक्त १—कर्ण वेध (कनछेदन और २—केशान्त अर्थात् युवावस्था के प्रारम्भ मे दाढ़ी मूछ इत्यादि सब बालों के मुड़वाने का भी एक सस्कार होता है। परन्तु इनकी गिनती साधारण संस्कारों मे है।

प्रत्येक संस्कार के समय वेदविधि से हवन किया जाता है। गायन, वादन, इष्टमित्र और विद्वानों का सत्कार किया जाता है।

ये संस्कार कन्या और पुत्र दोनो के लिए अनिवार्य हैं। मनुष्यमात्र यदि इन सस्कारों को शास्त्र-विधि के अनुसार करने लगे, तो उनका जीवन पवित्र और उच्च बन जावे। हिन्दू-जाति मे जब से इन सस्कारों का लोप हो गया है, तभी से जीवन की पवित्रता भी नष्ट हो गई। सस्कारों का पुनरुज्जीवन प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है।

तीसरा खण्ड

आचार-धर्म

"आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्त स्मार्त एव च"

—मनु०, अ० १०—१८

पंचमहायज्ञ इत्यादि कर्म वह अपनी पत्नी के साथ करने लगता है।

(१४) *वानप्रस्थ*—गृहस्थ का कर्त्तव्य पालन करके जब मनुष्य आयु के तीसरे भाग मे धर्म और मोक्ष की साधना के लिये वन को जाता है, उस समय यह संस्कार किया जाता है।

(१५) *सन्यास*—आयु के चौथे भाग मे जब मनुष्य ईश्वर-चिन्तन करते हुए केवल मोक्ष की साधना मे लगना चाहता है, और सब प्राणियों पर समदृष्टि रख कर जनहित को अपना एक-मात्र उद्देश्य रखना चाहता है, तब जो विधि की जाती है, उनको संन्यास-सस्कार करते है।

(१६) *अन्त्येष्ठि*—यह अन्तिम संस्कार मनुष्य के मर जाने पर किया जाया है। इसमे उसका शव एक कुण्ड मे वैदिक विधि से हवन के साथ जलाया जाता है। यह अंतिम यज्ञ है। इसीलिए इसका नाम अन्त्येष्टि है।

उपर्युक्त सोलह मुख्य-मुख्य संस्कारों के अतिरिक्त १—कर्ण वेध (कनछेदन और २—केशान्त अर्थात् युवावस्था के प्रारम्भ मे दाढ़ी मूछ इत्यादि सब बालों के मुड़वाने का भी एक संस्कार होता है। परन्तु इनकी गिनती साधारण संस्कारों मे है।

प्रत्येक संस्कार के समय वेदविधि से हवन किया जाता है। गायन, वादन, इष्टमित्र और विद्वानों का सत्कार किया जाता है।

ये संस्कार कन्या और पुत्र दोनों के लिए अनिवार्य हैं। मनुष्यमात्र यदि इन संस्कारों को शास्त्र-विधि के अनुसार करने लगे, तो उनका जीवन पवित्र और उच्च बन जावे। हिन्दू-जाति मे जब से इन संस्कारों का लोप हो गया है, तभी से जीवन की पवित्रता भी नष्ट हो गई। संस्कारों का पुनरुज्जीवन प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है।

तीसरा खण्ड

आचार-धर्म

"आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्त स्मार्त एव च"

—मनु०, अ० १०—१८

आचार

मनुष्य के जिस व्यवहार से स्वयं उसका हित तथा संसार का उपकार होता है उसी को आचार और उसके विरुद्ध व्यवहार को अनाचार कहते हैं। आचार को सदाचार और अनाचार को दुराचार भी कहते हैं। वेद और स्मृतियों के अनुकूल जो धर्माचरण इत्यादि व्यवहार किया जाता है वही आचार है, आचार ही परम धर्म है। मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो चारों वेदों का सांगोपांग ज्ञाता हो पर यदि वह आचार-भ्रष्ट है, तो उसका सब ज्ञान व्यर्थ है। यही बात मनुजी कहते हैं :—

आचाराद्विच्युतो विप्रा न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु सयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्॥
एवमाचरतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचार जगृहुः परम्॥

मनु०

आचार भ्रष्ट वेदज्ञाता वेद के फल को नही पाता। जो आचार से युक्त है, वही सम्पूर्णफल पाता है। इसलिये मुनियों ने जब देखा कि आचार ही से धर्म की प्राप्ति है तब उन्होंने धर्म के परम मूल आचार को ग्रहण किया। जो अपने चरित्र को सदैव धर्मानुकूल रखता है वह सब प्रकार से सुखी होता है। इस विषय में भगवान् मनु कहते हैं :—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारदीप्सिरताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥

मनु०

आचार से पूर्णायु मिलती है, आचार से ही मनोवांछित सन्तान उत्पन्न होती है; आचार से धन सम्पत्ति मिलती है, और आचार से सब दुर्गुण दूर हो जाते हैं। इसके विरुद्ध जो आचार की रक्षा नहीं करते उनकी क्या दशा होती है सो भी मनु भगवान् के शब्दो मे सुन लीजिए :—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुर्भागी च सतत व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

मनु०

दुराचारी पुरुष की संसार मे निंदा होती है वह नाना प्रकार के दुःखों का भागी होता है, निरन्तर रोग से पीड़ित रहता, और बहुत जल्द मर जाता है। इसलिए आर्यों की सन्तान को उचित है कि अपने आचार की रक्षा करे। वास्तव मे आर्य शब्द का अर्थ ही यह है कि जिसका आचार श्रेष्ठ हो और जो सदैव अकर्त्तव्य का त्याग और कर्तव्य का पालन करता हो :—

कर्त्तव्यमाचरन्कार्यमकर्त्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचार स वा आर्य इति स्मृतः ॥

जो कर्तव्य कार्य का आचरण करता हो और अकर्तव्य का आचरण न करता हो तथा सदैव अपने स्वाभाविक आचार मे स्थिर रहता हो वही आर्य है।

अब वास्तव मे प्रश्न यह है कि कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है, तथा आर्यों का—हिन्दुओ का—प्रकृतिसिद्ध आचरण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर मनु महाराज देते है :—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥

मनु०

आर्यजनों के धर्म या कर्तव्य का मूल सम्पूर्ण वेद है। इसके सिवाय वेद के जानने वाले ऋषि-मुनि लोग जो स्मृति आदि शास्त्र लिख गये हैं उनमे भी धर्म का वर्णन है और जैसा वे आचरण कर गए हैं, वह भी हमको कर्तव्य सिखलाता है। फिर इसके सिवाय अन्य साधु पुरुषों का जो आचार हम देखते है, वह भी धर्ममूल है। इन सब के साथ ही कर्तव्याकर्तव्य की परीक्षा करने के लिए मनु जी ने एक बहुत ही उत्तम कसौटी बतलाई है और वह है—"आत्मनस्तुष्टि"। अर्थात् जिस कर्तव्य से हमारी आत्मा सन्तुष्ट हो, मन प्रसन्न हो, वही धर्म है। अर्थात् जिस कार्य के करने मे हमारी आत्मा मे भय, शंका, लज्जा, ग्लानि इत्यादि के भाव उत्पन्न न हों, उन्हीं कर्मों का सेवन करना उचित है। देखिये, जब कोई मनुष्य मिथ्या-भाषण चोरी व्यभिचार इत्यादि अकर्तव्य कार्यों की इच्छा करता है, तभी उसकी आत्मा मे भय शंका, लज्जा, ग्लानि इत्यादि के भाव उठते हैं, और मनुष्य को आत्मा स्वयं उसको ऐसे कर्मों के करने से रोकती है। इसलिए सज्जन पुरुषों को जब कभी कर्तव्य के विषय मे सन्देह उत्पन्न होता है तब वे अपनी आत्मा की प्रवृति को देखते हैं। वे सोचते है कि किस कार्य के करने से हमारी आत्मा को सन्तोष होगा, और ऐसा कार्य वे करते भी हैं। किसी कवि ने कहा है :—

सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

अर्थात् सन्देह उपस्थित होने पर सत्पुरुष लोग अपने अन्तःकरण की प्रवृत्तियों को ही प्रमाण मानते हैं। अन्तःकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति सदाचार ही है और सदाचार से ही चित्त प्रसन्न होता है। भगवान् पतंजलि इसी चित्त प्रसन्नतारूप आचार का वर्णन इस प्रकार करते हैं :—

आचार से पूर्णायु मिलती है; आचार से ही मनोवांछित सन्तान उत्पन्न होती है, आचार से धन सम्पत्ति मिलती है, और आचार से सब दुर्गुण दूर हो जाते हैं। इसके विरुद्ध जो आचार की रक्षा नही करते उनकी क्या दशा होती है सो भी मनु भगवान के शब्दो मे सुन लीजिए :—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुर्भागी च सतत व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

मनु०

दुराचारी पुरुष की संसार मे निंदा होती है वह नाना प्रकार के दुःखो का भागी होता है, निरन्तर रोग से पीड़ित रहता, और बहुत जल्द मर जाता है। इसलिए आर्यों की सन्तान को उचित है कि अपने आचार की रक्षा करे। वास्तव मे आर्य शब्द का अर्थ ही यह है कि जिसका आचार श्रेष्ठ हो और जो सदैव अकर्त्तव्य का त्याग और कर्तव्य का पालन करता हो :—

कर्त्तव्यमाचरन्कार्यमकर्त्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचार स वा आर्य इति स्मृतः ॥

जो कर्तव्य कार्य का आचरण करता हो और अकर्तव्य का आचरण न करता हो तथा सदैव अपने स्वाभाविक आचार मे स्थिर रहता हो वही आर्य है।

अब वास्तव मे प्रश्न यह है कि कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है, तथा आर्यों का—हिन्दुओ का—प्रकृतिसिद्ध आचरण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर मनु महाराज देते है :—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥

मनु०

आर्यजनों के धर्म या कर्तव्य का मूल सम्पूर्ण वेद है। इसके सिवाय वेद के जानने वाले ऋषि-मुनि लोग जो स्मृति आदि शास्त्र लिख गये हैं उनमे भी धर्म का वर्णन है और जैसा वे आचरण कर गए हैं, वह भी हमको कर्तव्य सिखलाता है। फिर इसके सिवाय अन्य साधु पुरुषों का जो आचार हम देखते है, वह भी धर्ममूल है। इन सब के साथ ही कर्तव्याकर्तव्य की परीक्षा करने के लिए मनु जी ने एक बहुत ही उत्तम कसौटी बतलाई है और वह है—"आत्मनस्तुष्टि"। अर्थात् जिस कर्तव्य से हमारी आत्मा सन्तुष्ट हो, मन प्रसन्न हो, वही धर्म है। अर्थात् जिस कार्य के करने मे हमारी आत्मा मे भय, शंका, लज्जा, ग्लानि इत्यादि के भाव उत्पन्न न हों, उन्हीं कर्मों का सेवन करना उचित है। देखिये, जब कोई मनुष्य मिथ्या-भाषण चोरी व्यभिचार इत्यादि अकर्तव्य कार्यों की इच्छा करता है, तभी उसकी आत्मा मे भय शंका, लज्जा, ग्लानि इत्यादि के भाव उठते हैं, और मनुष्य को आत्मा स्वयं उसको ऐसे कर्मों के करने से रोकती है। इसलिए सज्जन पुरुषों को जब कभी कर्तव्य के विषय मे सन्देह उत्पन्न होता है तब वे अपनी आत्मा की प्रवृति को देखते हैं। वे सोचते हैं कि किस कार्य के करने से हमारी आत्मा को सन्तोष होगा, और ऐसा कार्य वे करते भी हैं। किसी कवि ने कहा है :—

सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।

अर्थात् सन्देह उपस्थित होने पर सत्पुरुष लोग अपने अन्तःकरण की प्रवृत्तियों को ही प्रमाण मानते हैं। अन्तःकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति सदाचार ही है और सदाचार से ही चित्त प्रसन्न होता है। भगवान् पतंजलि इसी चित्त प्रसन्नतारूप आचार का वर्णन इस प्रकार करते हैं :—

मैत्रीकरुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावना तच्चित्तप्रसादनम् ॥ —योगदर्शन

अर्थात् सुखी, दुखी, पुण्यता और दुष्टात्मा इन चार प्रकार के पुरुषों मे क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदित और उपेक्षा की भावना से चित्त प्रसन्न होता है। संसार मे चार ही प्रकार के प्राणी हैं। कोई सुखी है, कोई दुखी है, कोई धर्मात्मा है, कोई अधर्मी है। इन चारों प्रकार के लोगों से यथायोग्य व्यवहार करने से ही चित्त प्रसन्न होता है मन को शान्ति मिलती है। जो लोग सुख मे हों, उनसे प्रेम या मैत्री का बर्ताव करना चाहिए, जो लोग दीन या दुखी पीड़ित हैं उन पर दया करनी चाहिए। जो पुण्य तथा पवित्र आचरण वाले है उनको देखकर हर्षित होना चाहिए। और जो दुष्टदुराचारी हैं उनसे उदासीन रहना चाहिए—अर्थात् उनसे न प्रीत करे और न वैर।

इस प्रकार का व्यवहार करने से हम अपने आप को उन्नत कर सकते है। सद्भावनाओं की जाग्रति और असद्भावनाओं का त्याग करने के लिए यही सदाचार का मार्ग ऋषियों ने बतलाया है। जिन सज्जनों ने ऐसा आचार धारण किया है उन्हीं को लक्ष्य करके राजर्षि भर्तृहरि कहते है :—

> वाञ्छा सज्जनसंगमे परगुणे प्रीति गुरौ नम्रता
> विद्यायां व्यसनं स्वयोषितिरतिर्लोकापवदाद् भयम् ।
> भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले
> ष्वेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः ॥

सज्जनो के सत्संग की इच्छा, दूसरे के सद्गुणों मे प्रीति, गुरुजनों के प्रति नम्रता, विद्या मे अभिरुचि, अपनी ही स्त्री मे रति, लोकनिन्दा से भय, ईश्वर मे भक्ति, आत्मदमन मे भक्ति, दुष्टों के संसर्ग से मुक्ति अर्थात् बुरी संगति से बचना—ये

निर्मल गुण जिसके मन मे बसते हैं, उसको हमारा नमस्कार है। वही सदाचारी पुरुष है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्म का अर्थ है—ईश्वर अथवा विद्या। सो ईश्वर अथवा विद्या के लिए जो आचरण किया जाय, उसका नाम है ब्रह्मचर्य। परन्तु ब्रह्मचर्य का साधारण अर्थ आजकल वीर्यरक्षा से लिया जाता है। इसलिए यहाँ पर हम वीर्यरक्षा का ही विचार करेंगे। विद्यार्थियो से सम्बन्ध रखने वाले विशिष्ट ब्रह्मचर्य पर हम आश्रम-धर्म मे लिख चुके है।

वीर्यरक्षा मनुष्य का प्रधान धर्म है। मनुष्य जो कुछ भोजन करता है, उसके कई प्रकार के रस तैयार होने के बाद मुख्य धातु या वीर्य तैयार होता है। यह वीर्य शरीर का राजा है। इसी से मनुष्य की शक्ति और ओज कायम रहता है। मनुष्य के शरीर से जब ओज नष्ट हो जाता है, तब वह जीवित नहीं रहता। आयुर्वेद मे इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

> ओजस्तु तेजो धातूना शुक्रान्तानामपि स्मृतम्।
> हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम् ॥

अर्थात् शुक्र आदि शरीर के अन्दर जितनी धातुएँ हैं, उन सब से एक अपूर्व तेज प्रकट होता है, और उसी को ओज कहते हैं। यह यद्यपि विशेषकर हृदय मे ही स्थिर रहता है, परन्तु उसका प्रभाव सारे शरीर मे व्याप्त रहता है, और यही शरीर की स्थिति कायम रखता है। अर्थात् इसका जब नाश हो जाता है, तब शरीर नष्ट हो जाता है।

इससे पाठकों को मालूम हो जायगा कि, मनुष्य के लिए वीर्यरक्षा की कितनी आवश्यकता है। मनुष्य यदि अपने वीर्य

को अपने शरीर के अन्दर धारण किये रहता है, तो उसकी शारीरिक उन्नति और मानसिक उन्नति बराबर होती रहती है। शरीर और मन मे नवीन स्फूर्ति सदैव बनी रहती है। वीर्य रक्षा करने वाले मनुष्य का कोई विचार निष्फल नही जाता। वह जो कुछ सोचता है, करके ही छोड़ता है। आज तक जितने महापुरुष संसार मे हो गये है, वे सब ब्रह्मचारी थे। ब्रह्मचर्य के बल पर ही उन्होंने कठोर से भी कठोर कार्य सिद्ध किये थे। यहाँ तक कि वेद मे कहा है कि—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

अर्थात् ब्रह्मचर्य और तप के बल पर ही देवता लोग मृत्यु को जीत लेते हैं। भीष्म पितामह की कथा सब को मालूम है। ब्रह्मचर्य के बल पर ही उनको इच्छामरण की शक्ति प्राप्त थी, उन्होंने मृत्यु को जीत लिया था। वाणों से विद्ध होने पर भी, अपनी इच्छा से बहुत दिन तक जीवित रहे। उसी दशा मे सब को धर्मोपदेश दिया, और जब उन्होंने इस संसार मे रहना आवश्यक न समझा, तब स्वेच्छा से शरीर का त्याग किया। परशुरामजी, हनुमान जी, इत्यादि अनेक बालब्रह्मचारी भारतवर्ष मे हो गये हैं, जो हमारे लिए ब्रह्मचर्य के आदर्श है। वर्तमान समय मे भी स्वामी दयानन्द जी आदर्श ब्रह्मचारी हो गये हैं, जिन्होंने भारत वर्ष को घोर निद्रा से जगाया, और उनका कोई भी उपदेश अथवा कार्य निष्फल नही गया। भारतवासी धीरे-धीरे उन्हीं के उपदेश पर आ रहे है।

आजकल प्रायः देखा जाता है कि हमारे स्कूल और कालेज के विद्यार्थी वीर्यरक्षा पर बिलकुल ध्यान नहीं देते। कई प्रकार से—मुष्टिमैथुन इत्यादि की कुटेव से—अपने वीर्य को नाश.

किया करते हैं। हाय! उनको नहीं मालूम कि, अपने हाथ से अपने जीवन पर कुठाराघात कर रहे है। वीर्य का एक बूँद मनुष्य का जीवन है। कहा है कि—

मरण बिन्दुपातेन जीवन बिन्दुधारणात्।

अर्थात् वीर्य का एक बूँद भी शरीर से गिरा देना मरण है और एक बूँद की भी अपने अन्दर रक्षा कर लेना जीवन है। स्वामी रामतीर्थ जी ने लिखा है कि, मनुष्य के शरीर के अन्दर दो रक्त होते है। एक लाल रक्त जो मामूली रक्त है, और सफेद रक्त जो वीर्य है। जब एक बूँद भी रक्त मनुष्य के शरीर से किसी कारण निकल जाता है, तब तो उसको बड़ा पश्चात्ताप होता है कि, हाय! इतना रक्त मेरा निकल गया। पर सफेद रक्त (वीर्य) जो शरीर का राजा है, उसको व्यर्थ ही हम जानबूझ कर, क्षणिक सुख के लिये, शरीर से निकाल दिया करते हैं। यह कितने दुःख की बात है।

आज! वीर्यक्षय से न जाने कितने होनहार नवयुवक अकाल ही काल के गाल मे चले जा रहे हैं। आयुर्वेद मे स्पष्ट लिखा हुआ है।

आहारस्य पर धाम शुक्र तद्द्रव्यमात्मनः।
क्षये ह्यस्य वहून् रोगान् मरण वा नियच्छति॥

अर्थात् मनुष्य जो प्रतिदिन नियमित आहार करता है, एक मास के बाद उसका अन्तिम रस अर्थात् वीर्य तैयार होता है— उसकी पूर्ण यत्न से रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि उसके क्षय होने पर अनेक रोग आ घेरते हैं। यही नहीं बल्कि मनुष्य की जीवन-लीला की अन्तिम यवनिका भी पतन हो जाती है। इसलिये

मनुष्य को ब्रह्मचर्य की रक्षा प्रत्येक दशा मे करनी चाहिये। पंतजलि ऋषि ने अपने योगसूत्रों मे लिखा है :—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठाया वीर्यलाभः।

योग॰

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से बल-वीर्य की प्राप्ति होती है। वीर्य को नाश करनेवाले आठ प्रकार के मैथुन विद्वानो ने बतलाए हैं :—

दर्शन स्पर्शन केलिः प्रेक्षण गुह्यभाषणम्।
सकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्ग प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीत ब्रह्मचर्यं जह्यात्तन्न कदाचन ॥

अर्थात् दर्शन, स्पर्श, केलि, नेत्रकटाक्ष, एकान्त मे भाषण, सङ्कल्प, प्रयत्न, कार्यनिष्पत्ति ये आठ प्रकार के मैथुन (स्त्रीप्रसङ्ग) विद्वानों ने बतलाये हैं। इनसे बचना ही ब्रह्मचर्य है, जिसको कभी छोड़ना न चाहिये। ब्रह्मचर्य छोड़ने से और क्या क्या हानि होती है, इस विषय मे गौतम ऋषि का वचनलीजिए :—

आयुस्तेजो बल वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महद्यशः।
पुण्य च सुप्रीतिमत्त्व च हन्यतेऽब्रह्मचर्यया ॥

अर्थात् ब्रह्मचर्य न धारण करने से आयु, बल, वीर्य, बुद्धि, लक्ष्मी और तेज, महायश पुण्य, प्रेम, इत्यादि सब अच्छे अच्छे गुणों का नाश हो जाता है।

यह नहीं कि विवाह करने के पहले ही मनुष्य ब्रह्मचारी रहे, बल्कि विवाह कर लेने के बाद, अपनी स्त्री के साथ भी ब्रह्मचारी रहना चाहिये। हम यह नहीं कहते कि, वह स्त्री का सर्वथा त्याग करदे, किन्तु हमारा तात्पर्य इतना ही है कि,

स्त्री के रहते हुए भी उसको वीर्यरक्षा का ध्यान रखना चाहिये। स्त्री प्रसंग सिर्फ सन्तान-उत्पत्ति के लिए है। इन्द्रिय-सुख के लिए वीर्य का नाश न करना चाहिये।

रामायण के पढ़ने वालों को मालूम है कि महाबली मेघनाद को मारने की किसी मे शक्ति न थी। उस समय भगवान् रामचन्द्रजी ने कहा कि, इस महाबली राक्षस को वही मार सकेगा, जिसने बारह वर्ष अखण्ड ब्रह्मचर्य का साधन किया हो लक्ष्मणजी श्री रामचन्द्रजी के साथ बन मे बारह वर्ष से पूर्ण ब्रह्मचारी थे। इनके मन मे कभी कोई अपवित्र भाव नहीं उठा था। इसलिए लक्ष्मणजी ने ब्रह्मचर्य के सहारे ही मेघनाद पर विजय प्राप्त की। इसी प्रकार महाभारत मे चित्ररथ गन्धर्व के अर्जुन-द्वारा जीते जाने की कथा है। उसमे लिखा है कि, महावीर अर्जुन ने जब चित्ररथ को जीत लिया, तब चित्ररथ ने कहा:—

ब्रह्मचर्यः परो धर्मः स चापि नियतस्त्वयि ।
यस्मात्तस्मादहं पार्थ रणेऽस्मिन् विजितस्त्वया ॥

अर्थात् हे पार्थ, ब्रह्मचर्य ही परम धर्म है। इसका तुमने साधन किया है, और इसी कारण तुम मुझको युद्ध मे पराजित कर सके हो।

कहाँ तक कहें, ब्रह्मचर्य की जितनी महिमा कही जाय, थोड़ी है। इसलिए ब्रह्मचर्य अर्थात् वीर्य की रक्षा करके मनुष्य को अपना जीवन सफल करना चाहिए।

यज्ञ

ससार के हित के लिए जो आत्मत्याग किया जाता है, उसी को यज्ञ कहते हैं। हिन्दू जाति का जीवन यज्ञमय है। यज्ञ से ही

इसकी उत्पत्ति होती है, और यज्ञ मे ही इसकी अन्त्येष्टि होती है। यज्ञ का अर्थ जितनी पूर्णता के साथ आर्य या हिन्दू जाति ने माना है, उतना अन्य किसी जाति ने नही। हिन्दू-धर्म के सभी ग्रन्थो मे यज्ञ का विस्तृत वर्णन है। आदि-धर्म-ग्रन्थ वेद तो बिलकुल यज्ञमय हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे और चौथे अध्याय मे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने यज्ञ का रहस्य अत्यन्त सुन्दरता के साथ बतलाया है। आप कहते है :—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसग. समाचर॥

गीता

अर्थात् यदि 'यज्ञ' के लिए कर्म नही किया जायगा, केवल स्वार्थ के लिए किया जायगा, तो वही कर्म बन्धकारक होगा। इसलिए हे अर्जुन तुम जो कुछ कर्म करो, सब यज्ञ के लिए— अर्थात् संसार के हित के लिये—करो, और संसार से आसक्ति छोड़कर आनन्दपूर्वक आचरण करो। यज्ञ की उत्पत्ति बतलाते हुए भगवान् कहते है :—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

गीता

अर्थात् प्रजापति परमात्मा ने जब आदि काल मे यज्ञ के साथ ही साथ अपनी इस प्रजा को उत्पन्न किया, वेद द्वारा यह कहा कि, देखो, इस यज्ञ से तुम चाहे जो उत्पन्न कर लो। यह तुम्हारी कामधेनु है। यज्ञ तुम्हारी सब मनोकामनाओं को पूर्ण करेगा। क्योंकि :—

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावन्तु वः।
परस्पर भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

गीता

इस यज्ञ ही से तुम देवताओं—सृष्टि की सम्पूर्ण कल्याण-कारी शक्तियों—को प्रसन्न करो। तब वे देवता स्वाभाविक ही तुमको भी प्रसन्न करेंगे। इस प्रकार परस्पर को प्रसन्न करने से तुम सब का परम कल्याण होगा। क्योंकि :—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो तो भुक्ते स्तेन एव सः॥

गीता

वे यज्ञ से प्रसन्न किये हुए देवता लोग तुमको सब प्रकार से सुख देंगे। परन्तु उनके दिये हुए उन सुखों को यदि तुम फिर उनको अर्पित किये बिना अकेले ही अकेले भोगोगे, तो चोर बनोगे। क्योंकि यज्ञ के द्वारा देवता लोग तुमको जो सुख पदार्थ देंगे, उनको फिर यज्ञ के द्वारा उनको अर्पित करके तब तुम सुख भोग करो। इस प्रकार सिलसिला सुख-भोग का लगा रहेगा। यज्ञ करके जो सुख भोग किया जाता है, वही कल्याणकारी है :—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघ पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

गीता

अर्थात् यज्ञ करने के बाद जो शेष रह जाता है, उसी का भोग करने से सारे पाप दूर होते हैं, किन्तु जो पापी, यज्ञ का ध्यान न रखकर, केवल अपने ही लिए भोजन बनाते हैं, वे पाप खाते हैं। बिना यज्ञ किये भोजन करना मानो पाप ही का भोजन है।

जो अन्न हम खाते है, वह किस प्रकार उत्पन्न होता है, इस विषय मे भगवान कृष्ण कहते हैं :—

> अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
> यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
> कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
> तस्मात् सर्वगत ब्रह्म नित्य यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥
>
> गीता

अर्थात् अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते है, अन्न वृष्टि से उत्पन्न होता है, और वृष्टि यज्ञ से होती है। यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। कर्म वेद से उत्पन्न हुआ जानो और वेद ईश्वर से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार सर्वव्यापी सदैव यज्ञ मे स्थित है। इसलिए—

> एव प्रवर्तित चक्र नानुवर्त्तयतीह यः।
> अघायुरिन्द्रियारामो मोघ पार्थ स जीवति॥
>
> गीता

हे अर्जुन, परमात्मा के जारी किये हुये उपर्युक्त सिलसिले के अनुसार जो मनुष्य आचरण नहीं करता—अर्थात् यज्ञ के महत्व को समझकर जो नहीं चलता— वह पापजीवन अपनी इन्द्रियों के सुख मे भूला हुआ इस संसार मे व्यर्थ ही जीता है।

इससे अधिक जोरदार शब्दों मे यज्ञ का महत्व और क्या बतलाया जा सकता है ! परन्तु अत्यन्त दुःख की बात है कि हम लोगों ने यज्ञ करना छोड़ दिया है। यही नही, बल्कि हम मे से अनेक सुशिक्षित कहलाने वाले लोग तो यज्ञ की हँसी उड़ाते है। भगवान् श्रीकृष्ण की यह बात कि यज्ञ से वृष्टि होती है, उनकी समझ मे नही आती। वे लोग कहते हैं कि सूर्य की गर्मी

से जो भाप समुद्रादि जलाशयों से उठती है, उसी से बादल बन कर वृष्टि होती है। यह तो ठीक है, परन्तु फिर क्या कारण है कि किसी साल बहुत अधिक वृष्टि होती है, और किसी साल बिलकुल नहीं होती। आप कहेगे कि, भाप तो बराबर उठती हैं, परन्तु हवा बादल को कहीं का कही उड़ा ले जाती है, और इसी कारण कहीं वृष्टि अधिक हो जाती है, और कही बिलकुल नहीं होती। ठीक। परन्तु हवा ऐसा क्यों करती है ? इसका कोई बुद्धि युक्त उत्तर नहीं दिया जा सकता। यही तो भेद है। प्राचीन ऋषि मुनियों ने इस भेद को खुलासा किया है। उनका कथन है कि, यथाविधि यज्ञ हवन करने से मुख्य तो वायु की शुद्धि होती है फिर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इत्यादि सभी भूतों पर यज्ञ का असर पड़ता है। अग्नि मे घृत इत्यादि जो सुगन्धित और पुष्ट पदार्थ डाले जाते है, वे वायु मे मिलकर सूर्य तक पहुँचते हैं, और बादलों मे मिल कर जल की भी शुद्धि करते हैं। महर्षि मनु ने कहा है :—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

मनु०

अर्थात् अग्नि मे जो आहुति डाली जाती है, वह सूर्य तक पहुँचती है, सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है, और अन्न से प्रजा।

इसके सिवाय वायु की शुद्धि से रोग भी नहीं होते। जब से हमारे देश मे यज्ञ बन्द हो गए, और इधर पश्चिमी कल कारखानों और रेल के कारण वायु और भी अधिक दूषित हो गई, तभी से इस देश मे नाना प्रकार के रोग फैल गये। रोग निवृत्ति के लिये तो अब भी ग्रामीण लोग हवन, इत्यादि किया करते हैं,

और प्रायः उससे लाभ ही हुआ करता है। इससे अनुमान कर लेना चाहिये कि, जिस समय भारतवर्ष मे वड़े वड़े यज्ञ होते थे, उस समय इस देश मे आरोग्यता और सुख समृद्धि कितनी होगी। भविष्य पुराण मे लिखा है :—

ग्रामे ग्रामे स्थितो देवः देशे देशे स्थितो मखः ।
गेहे गेहे स्थित द्रव्य धर्मश्चैव जने जने ॥

भविष्यपुराण

अर्थात् गॉव गॉव मे देवता स्थिर हैं, देश देश मे, भारत के प्रत्येक प्रान्त मे, यज्ञ होते रहते हैं, घर घर मे द्रव्य मौजूद है, अथात् कोई दरिद्री नहीं, है, और प्रत्येक मनुष्य मे धर्म मौजूद है।

कुछ मूर्ख लोग कहा करते हैं कि, देश की इस दरिद्रावस्था मे घृत, मेवा, औषधि तथा सुन्दर सुन्दर अन्न खीर, हलुआ इत्यादि अग्नि मे फूॅक देना मूर्खता है। इन पदार्थों को स्वयं यदि खायॅ तो मोटे-ताजे और पुष्ट होंगे। इसी स्वार्थभाव ने इस देश का सत्यानाश किया है। ये मूर्ख नहीं जानते कि यज्ञ जनता के हित के लिए स्वार्थत्याग करने के हेतु से ही होता है। ब्राह्मणग्रन्थों मे लिखा है :—

यज्ञेऽपि तस्यै कल्पते ।

—ऐतरेय ब्राह्मण

अर्थात् यज्ञकार्य परोपकार और जनता के हित के लिए ही होता है। हमारा निज का हित भी उससे अलग नहीं है। यही बात कृष्ण भगवान् ने भी कही है। फिर जो पदार्थ हम हवन करते हैं वे कहीं नष्ट होकर लोप नहीं हो जाते हैं। जल, वायु

और अन्न के द्वारा हमारे ही उपयोग मे आते हैं। मूर्ख लोग समझते है कि, इनका नाश हो जाता है, पर वास्तव मे जो पदार्थ है, उसका नाश तो हो ही नहीं सकता है और जो नहीं है, वह हो नहीं सकता। गीता मे ही कहा है:—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
भगवद्गीता

अर्थात् जो चीज है ही नही उसका भाव कहाँ से हो सकता है, जो है, उसका अभाव नही हो सकता। दोनों का भेद तत्वदर्शी लोग जानते हैं। मूर्ख क्या जाने! अस्तु।

यज्ञ दो प्रकार के होते हैं। एक तो नैमित्तिक यज्ञ, जो किसी निमित्त से किए जाते है, जैसे वाजपेय, अश्वमेध, राजसूर्य, इत्यादि, और दूसरे नित्य के यज्ञ, जो प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए, और जिनको पञ्चमहायज्ञ कहते हैं। इनका वर्णन इस पुस्तक मे अन्यत्र दिया हुआ है।

पञ्चमहायज्ञ के अतिरिक्त पञ्चयज्ञ प्रत्येक पूर्णमासी और अमावस्या को किया जाता है। नवशस्येष्टि नवीन अन्नों के आने पर और संवत्सष्टि नवीन संवत् के प्रारम्भ मे किया जाता है।

इसी प्रकार यज्ञ की प्रथा यदि फिर हमारे देश मे चल जायेगी, तो अतिवृष्टि, अनावृष्टि और वहुत से रोग-दोप दूर हो जायेगे, परन्तु साथ ही, वर्तमान समय मे वायु को दूषित करनेवाले जो कारण यहाँ पर उपस्थित हो गए है उनका भी दूर होना आवश्यक है।

दान

हिन्दू धर्म मे दान का बडा भारी महत्व प्राचीन काल से ही चला आता है। यहाँ पर हरिश्चन्द्र, बलि और कर्ण के समान दानी हो गए है, जिन्होंने अपना सर्वस्व दान करके ऐसे-ऐसे कष्ट भोगे, जिनका ठिकाना नही। हमारे धर्मग्रन्थो मे दान का महात्म्य जगह-जगह वर्णन किया गया है, और यह भी बतलाया गया है कि, दान धर्म करने की सच्ची प्रणाली कौन सी है। उपनिषदों मे कहा है :—

श्रद्धया देयम् अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

तैत्तिरीय उपनिषद्

अर्थात् श्रद्धा से दो, अश्रद्धा से दो। सम्पन्न होकर भी दो। लोकलज्जावश दो। भय से दो। प्रतिज्ञावश दो। मतलब यह कि, किसी प्रकार हो, दान अवश्य दो। जो हमेशा लोगों को दान दिया करता है, वह सर्वप्रिय हो जाता है। उसके शत्रु भी मित्र बन जाते है। कहा है —

दानेन भूतानि वशीभवन्ति,
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दाने,
दानं हि सर्वव्यसनानि हन्ति।

अर्थात् दान से सब प्राणीमात्र वश मे हो जाते हैं—यहाँ तक कि बैरी लोग बैर छोड़कर मित्र बन जाते है। दान से पराये लोग भी अपने भाई बन जाते है। दान एक ऐसा उत्तम कर्म है कि यह सब बुराइयों को दूर कर देता है। सत्य ही है जिसको दान

देने की आदत पड़ जाती है, उसको फिर अन्य कोई व्यसन सूझ ही कैसे सकता है। उसका धन तो परोपकार मे ही लगता है धन दान-धर्म मे लग गया, तब तो ठीक ही है अन्यथा उसकी गति अच्छी नही होती। दान मे न लगेगा, तो दुर्व्यसनों मे जायगा, अथवा नष्ट हो जायगा। क्योंकि कहा है :—

दान भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुक्तेतस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

अर्थात् :—

धन की गति तो तीन हैं, दान भोग औ नाश।
दान भोग जो ना करै, निश्चय होय विनाश ॥

परन्तु इन तीनों गतियों मे दान की ही गति उत्तम है। और यदि दान श्रद्धा के साथ प्रिय वचनों के साथ दिया जावे, तो फिर क्या कहना है! नीति मे कहा है :—

दान प्रियवाक्सहित ज्ञानमगर्व क्षमान्वित शौर्यम्।
वित्त त्यागनियुक्त दुर्लभमेतच्चतुष्टय लोके ॥

अर्थात् प्रिय वचनों के साथ दान, नम्रता और निराभिमानता के साथ ज्ञान, क्षमा के साथ शूरता, और त्याग के साथ धन, ये चार कल्याणकारी बाते मनुष्य मे दुर्लभ हैं। क्योंकि बहुत से लोग देते हैं, तो दो-चार बाते ही सुना देते हैं। ऐसे देने से कोई लाभ नहीं। सद्भाव जब पहले ही नष्ट हो गया, तब उस से फल ? इसलिए दान मे भी प्रिय बनना चाहिए। जो प्रिय बनता है, उसको प्रिय मिलता भी है। प्रेम का दान बहुत ही श्रेष्ठ है। ऋषियों ने कहा है —

प्रियाणि लभते नित्य प्रियदः प्रियकृत्तथा ।
प्रियो भवति भूतानामिह चैव परत्र च ॥

अर्थात् जो प्रति दिन सब को प्यार देता है, और प्यार के कार्य करता है, उसको स्वयं प्यार मिलता है, और वह इस लोक तथा परलोक दोनों जगह सब प्राणियों को प्रिय होता है। इसलिए प्यार का दान सब से श्रेष्ठ है। अच्छा, अब देखना चाहिए कि दान किस प्रकार का किया जाय। श्रीकृष्ण भगवान् ने गीता मे दान भी तीन प्रकार का बतलाया है :—

सात्विक दान

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दान सात्विक स्मृतम् ॥

अर्थात् "दान देना हमारा कर्त्तव्य है"—बस, सिर्फ इस एक भावना से जो दान दिया जाता है, जिसमे ऐसा कोई भाव नहीं रहता कि आज हम इसको देते है, कल हमारा भी इससे कोई उपकार हो जायगा, और जो देश, काल तथा पात्र का विचार करके दान किया जाता है, वह सात्विक दान है।

आज-कल हमारे देश मे दान देने की प्रथा बहुत बिगड़ रही है। ऐसा नही कि दान न दिया जाता हो, दान तो करोड़ों रुपयों का अब भी होता है, परन्तु उसमे देश, काल और पात्र का ध्यान नहीं रखा जाता। इससे वह दान लाभ की जगह पर हानि करता है। जिनको दान दिया जाता है, वे भी खराब होते हैं, और देश की दशा के बिगाड़ मे ही वे उस दान को खर्च करते है। इसलिए दानदाता को कोई अच्छा फल नहीं होता। महाभारत मे कहा है :—

अपात्रेभ्यस्तु दत्तानि दानानि सबहून्यपि ।
वृथा भवन्ति राजेन्द्र भस्मान्याज्याहुतिर्यथा ॥

महाभारत

अर्थात् अपात्र को चाहे बहुत ज्यादा दान दिया जाय, पर उसका कोई फल नहीं होता—वह इस प्रकार व्यर्थ जाता है कि जैसे राख मे कोई घी की आहुतियाँ डाले । इसलिये पात्रापात्र का विचार अवश्य करना चाहिये :—

पात्रापात्रविवेकोऽस्ति धेनुपन्नगयोर्यथा ।
तृणात्सजायते क्षीर क्षीरात्सजायते विषम् ॥

पात्रापात्र का विवेक ऐसा है, जैसे गो और सर्प का । गौ को आप घास खिलाएँगे, तो उससे दूध पैदा होगा, और साँप को आप दूध पिलायेगे, तो उससे विष पैदा होगा ! इसी प्रकार से सुपात्र को आप थोड़ा-सा भी दान देगे, तो वह आपको अच्छा फल देगा—वह अच्छे कर्मों मे खर्च करेगा, इससे देश का हित होगा; और यदि आप कुपात्र को देगे, तो वह भोग विलास, दुराचार मे खर्च कर देगा, जिससे सब को हानि पहुँचेगी । अब देखना चाहिये सुपात्र का क्या लक्षण है, कैसे मालूम हो कि यह सुपात्र है । व्यासजी कहते हैं :—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता ।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्र प्रकीर्तितम् ॥

अर्थात् न केवल विद्या अथवा न तो केवल तप से ही पात्रता की परीक्षा हो सकती है, बल्कि जहाँ पर विद्या और तप दोनों मौजूद हों, वही सुपात्र है । क्योंकि केवल विद्या होने से वह मनुष्य दुराचारी हो सकता है, और केवल तप होने से भी मनुष्य पाखण्डी हो सकता है । इसलिये जिस व्यक्ति मे विद्या भी है,

और तप भी है—अर्थात् जो विद्वान् और तपस्वी, सदाचारी, परोपकारी है, वही दान का पात्र है। इसके विरुद्ध मूर्ख दुराचारी को दान देने से पाप लगता है।

अच्छा अब देखना चाहिये कि, सात्विक दानों मे श्रेष्ठ दान कौन कौन से है, इस विषय से भिन्न भिन्न ऋषियों के वचन देखिए :—

गोदुग्ध वाटिकापुष्प विद्याकूपोदक धनम्।
दानाद्विवर्द्धते नित्यमदानाच्च विनश्यति ॥

अर्थात् गौ-भैस का दुग्ध, वाटिका के फल-पुष्प, विद्या, कुएँ का जल, धन, इत्यादि चीजे नित्य दान देने से बढ़ती हैं, और न देने से नाश हो जाती है। फिर कहते है :—

जलाशयाश्च वृक्षाश्च विश्रामगृहमध्वनि।
सेतुः प्रतिष्ठितो येन तेन सर्वं वशीकृतम् ॥

जो मनुष्य कुआँ, तालाब, बावड़ी आदि जलाशय, फल-फूल, छाया देने वाले वृक्ष, औषधालय, धर्मशाला, इत्यादि विश्रामगृह नदियों इत्यादि मे पुल बनवाते है वे मानों सारे संसार पर अपना प्रभाव स्थापित करके सब को वश मे करते हैं। किस प्राणी को किस चीच का दान करके सन्तुष्ट करना चाहिये, इस विषय मे देखिये :—

देय भेषजमार्त्तस्य परिश्रान्तस्य चासनम्।
तृषितस्य च पानीय क्षुधितस्य च भोजनम् ॥

रोगियों की औषधि-दान द्वारा सेवा करनी चाहिये। हारे-थके को स्थान, भोजन इत्यादि देकर सन्तुष्ट करना चाहिये, प्यासे को पानी और भूखे को अन्न देना चाहिए। सब दानों मे अन्नदान श्रेष्ठ है :—

यस्मादन्नात्प्रजाः सर्वाः कल्पे कल्पेऽसृजत्प्रभुः ।
तस्मादन्नात्पर दान न भूत न भविष्यति ॥

परमात्मा कल्प कल्प मे अन्न से ही सब प्राणियों की उत्पत्ति, पालन और रक्षण करता है, इसलिए अन्नदान से श्रेष्ठ और कोई दान न हुआ है, और न होगा। परन्तु अन्नदान से भी एक श्रेष्ठ दान है। ऋषि कहते है :—

अन्नदानम्पर दानं विद्यादानमतः परम् ।
अन्नेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीवन्तु विद्यया ।।

अन्नदान निस्सन्देह श्रेष्ठ दान है, परन्तु विद्यादान उससे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि अन्नदान से तो क्षण भर के लिए ही तृप्ति होगी फिर भूख तैयार है—परन्तु विद्यादान से जीवन भर के लिए सन्तोष हो जायगा। इसीलिए महर्षि मनु कहते है :—

सर्वेषामेव दानाना ब्रह्मदान विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाचनसर्पिषाम् ॥

मनु०

अर्थात् संसार मे जितने दान हैं—जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण घृत आदि—सब मे विद्यादान श्रेष्ठ है। इस लिए तन, मन, धन, सब लगाकर देश मे विद्या की वृद्धि करनी चाहिए। एक दान और भी श्रेष्ठ है, और वह है अभयदान। ससार मे अत्याचारी लोग निर्बल और गरीब लोगों पर रात-दिन जुल्म करते रहते हैं। उन पर दया करके, अत्याचारियों के चगुल से छुडाकर उनको अभयदान देना परम पवित्र कर्त्तव्य है। इस विपय मे ऋपियों ने कहा है :—

अभय सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः ।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य न भय विद्यते क्वचित् ॥

अर्थात् जो दयालु मनुष्य सब प्राणियों को अभयदान देता है उसको कभी भी किसी से भय नही होता।

राजस दान

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥

गीता

जो उपकार का बदला पाने के लिए, फल की इच्छा से और बड़े कष्ट से दिया जाता है, वह राजस दान है। ऐसा दान त्याज्य है।

तामस दान

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

गीता

देश, काल और पात्र का विचार न करके जो दान दिया जाता है, जिस दान मे सत्कार नहीं है, अपमान से भरा हुआ है, वह तामस दान है। बहुत से लोग अन्याय से दूसरों का धन हरण करके दानपुण्य करते है, पर ऐसे दानपुण्य से उसको कुछ फल नही हो सकता। ऐसे दाता के लिए कहा है —

अपहृत्य परस्यार्थान्यः परेभ्यः प्रयच्छति।
स दाता नरकं याति यस्यार्थास्तस्य तत्फलम् ॥

अर्थात् जो दूसरे का धन हरण करके—अन्याय से धन कमाकर दानधर्म करता है, वह दाता नरक को जाता है, क्योंकि जैसी जिसकी कमाई होती है, वैसा ही उसका फल होता है।

इसलिए न्यायपूर्वक, अपने सच्चे परिश्रम से, द्रव्योपार्जन करके सात्विक दानधर्म करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है।

तप

हम कह चुके हैं कि सत्कर्मों के लिए, अर्थात् धर्माचरण के लिए, कष्ट सहना ही तप है। तप का इतना ही अर्थ नहीं है कि, कड़ी धूप मे बैठ कर अपने चारों ओर से आग जलाकर, पञ्चाग्नि तापो। यह तामसी तप है। इससे कुछ भी लाभ नहीं—हॉ, इतना लाभ हो सकता है कि शरीर को आँच सहने की आदत पड़ जावे। इसी तरह नाना प्रकार के कठोर व्रतों का आचरण करने से भी कोई विशेष लाभ नहीं। हॉ, यदि किसी ऊँचे उद्देश्य के पूर्ण होने मे ऐसे तपों से सहायता मिलती हो, तो और बात है। अन्यथा ऐसे तपों को तामसी ही कहना चाहिए। भगवान् कृष्ण गीता मे कहते है :—

> अशास्त्रविहितं घोर तप्यन्ते ये तपो जनाः।
> दम्भाहकारसयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
> कर्षयन्तः शरीरस्थ भूतग्राममभचेतसः।
> मा चैवान्तःशरीरस्थ तान् विद्ध्यासुर निश्चयान्॥
>
> गीता

जो लोग वेदशास्त्र की मर्यादा को छोड़ कर घोर तप मे तपा करते है—दम्भ, अहकार से युक्त, काम और राग के बल से शरीर को और आत्मा को व्यर्थ कष्ट देते हैं, उनको राक्षस जानो। वे तपस्वी नहीं है। उनके चक्कर मे कोई मत आओ। सात्विक, राजस और तामस, तीनों प्रकार के तप का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं :—

> श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविध नरैः।
> अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्विक परिचक्षते॥
> सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।

क्रियते तदिह प्रोक्त राजसं चलमध्रुवम् ।।
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।।

गीता

अर्थात् सज्जन पुरुष फल की इच्छा न रखते हुए, उत्तम श्रद्धा के साथ, कायिक, वाचिक और मानसिक जो तीन प्रकार का तप करते है। (जिनका वर्णन आगे किया गया है) उसी को सात्विक तप कहते है। इससे आत्मा का और लोक का, दोनों का हित होता है।

दूसरा राजस तप है। यह दम्भ से किया जाता है—अर्थात् मनुष्य ऊपर से दिखाता है कि हम यह अच्छे कार्य मे कष्ट सह रहे है, परन्तु अन्दर से उसका कोई स्वार्थ होता है। यह तप वह अपने सत्कार, मान अथवा पूजा के लिए करता है— चाहता है कि लोग उसको अच्छा कहे। यह तप निकृष्ट है।

तीसरा तामसी तप है। किसी हठ मे आकर मनुष्य अपने-आपको पीड़ा देता है, उसके मन मे कोई अच्छा हेतु नही होता अथवा किसी का मारण-मोहन-उच्चाटन करने के लिए तप करता है। आजकल भी किसी दुश्मन को मारने के लिए, अथवा उसको हानि पहुँचाने के लिए अथवा अपना झूठा मुकदमा जीतने के लिए ही तप या पूजा-पाठ या पुरश्चरण करते कराते हैं। यह बिल्कुल अधम तप है।

सात्विक तप को ही ग्रहण करना चाहिए । अन्य दो प्रकार के तपों का त्याग करना चाहिए। सात्विक तप किस प्रकार किया जाय—उसके कायिक, वाचिक मानसिक तीन भेद किए गए हैं :—

शरीर का तप

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

देवता, द्विज, विद्वान्, इत्यादि जो हमारे पूजनीय हैं, उनकी पूजा करनी चाहिए। उनको अपनी नम्रता, सुशीलता, आदर-सत्कार से सन्तुष्ट रखना ही उनकी पूजा है। शौच—यानी शरीर, वस्त्र, स्थान, मन, आत्मा, बुद्धि इत्यादि को सब प्रकार से पवित्र रखना, मन मे कोई भी बुरा भाव कभी न आने देना, शरीर, वस्त्र, स्थान, इत्यादि निर्मल रखना, यही शौच है। आर्जव—नम्रता और सरलता धारण करना। छल-कपट कुटिलता, मिथ्या दम्भ, पाखण्ड, इत्यादि का त्याग, यही आर्जव है। ब्रह्मचर्य—सब इन्द्रियो का संयम करते हुए वीर्य की रक्षा करना। सदैव, इन्द्रियो को किसी प्रकार भी कष्ट न देना, यही अहिंसा है। इन सब गुणो का अभ्यास अपने शरीर और मन से करना और इनके अभ्यास मे चाहे जितना कष्ट हो, उसको सहना—शारीरिक तप है।

वाणी का तप

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तपउच्यते ॥

ऐसी वात न वोलो, जिसको सुनकर उद्वेग पैदा हो, किसी का मन ऊब उठे। सच वोलो। जिस वात को जैसा देखा सुना हो, अथवा जैसा किया हो, अथवा जैसा तुम्हारे मन मे हो, उसको वैसा ही अपनी वाणी द्वारा प्रकट करो। क्योंकि वाणी को जो कोई चुराता है। वह वहुत वडा चोर है। महर्षि मनु ने कहा है :—

वाच्यर्था नियतः सर्वे वाङ् मूला वाग्विनिःसृताः।
ता तु यः स्तेनयेद्वाच स सर्वस्तेयकृन्नरः।

मनुस्मृति।

अर्थात् संसार के सारे व्यवहार वाणी पर निर्भर हैं, सब वाणी से ही निकले हैं, और वाणी से ही चलते हैं, इसलिए वाणी को जो मनुष्य चुराता है (मिथ्या भाषण करता है, अथवा पालिसी से गोलमाल बोलता है) वह मानों सब प्रकार की चोरी कर चुका। क्योंकि वाणी से ही जब संसार के सब व्यवहार हैं, तो अब उससे अब कौन-सी चोरी बाकी है ? झूठा अथवा पालिसीबाज मनुष्य ही सबसे बड़ा चोर है।

अब इसके बाद वाणी के तप मे 'प्रिय' बोलना भी है। परंतु भगवान 'प्रिय' के साथ 'हितंच' पद भी रखा है। इसका तात्पर्य यह है कि, वाणी प्रिय भी हो साथ ही हितकारक भी हो, क्योंकि यदि वाणी प्रिय तो हुई, परन्तु हितकारक न हुई, तो वह "ठकुरसुहाती" या चापलूसी कहलायेगी। मनु जी ने इस विषय मे कहा है :—

सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यम प्रियम्।
प्रिय च नानृत ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥
भद्र भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत्।
शुष्कवैर विवाद च न कुर्यात्केनचित्सह॥

मनु०

अर्थात् सत्य बोलो, और प्रिय बोलो अप्रिय सत्य अर्थात् काने को काना मत कहो। प्रिय हो, परन्तु दूसरे को प्रसन्न करने के लिये ऐसा प्रिय मत बोलो कि जो मिथ्या हो। सदा भद्र अर्थात् दूसरे के लिये हितकारी बचन बोलो। व्यर्थ को बैर न

बढ़ाओ। बिना मतलब ऐसी वाहियात बात मत करो कि किसी को बुरा मालूम हो। किसी के साथ विवाद भी न करो। आनन्द के साथ संवाद करो।

परन्तु कभी-कभी ऐसा भी मौका आ जाता है कि किसी अच्छे उद्देश्य से अप्रिय सत्य बोलना पड़ता है। दूसरे का हित होता हो तो अप्रिय सत्य—कड़वी सच्चाई कहने मे भी विशेष हानि नही। परन्तु यह बड़े साहस का काम है। जिनकी आत्मा मजबूत है, वही ऐसा काम कर सकते है। महाभारत, उद्योगपर्व, विदुरनीति मे कहा है :—

सुलभाः पुरुषा राजन् सतत प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

महाभारत

अर्थात् हे राजा धृतराष्ट्र, इस संसार मे दूसरे को प्रसन्न करने के लिए निरन्तर प्रिय बोलनेवाले प्रशंसक—मिथ्या प्रशंसक यानी चाटुकार तो—बहुत हैं, परन्तु जो सुनने मे तो अप्रिय मालूम हो किन्तु हो कल्याणकारी—ऐसा वचन कहने और सुनने वाला पुरुष दुर्लभ है।

इसलिए सज्जन और सत्यवादी पुरुष सदा खरी कहते हैं, और दूसरे से खरी सुनने की सहनशक्ति भी रखते हैं। परन्तु पीठ पीछे दूसरे की निन्दा नहीं करते, किन्तु उनके गुणों का ही प्रकाश करते हैं। इसके विरुद्ध जो दुर्जन होते हैं, वे मुँह पर तो चिकनी चुपडी वना कर कहते हैं, और पीठ पीछे उसकी वुराई करते हैं।

अस्तु, वाणी के तप मे मुख्य वात यही है कि सत्य और हितकारक वचन कहे। फिर स्वाध्याय का भी अभ्यास रखे। अर्थात् ऐसे ग्रन्थो का पठन्-पाठन सदैव करता रहे कि जिनसे ज्ञान, सदाचार, धर्म, ईश्वर-भक्ति इत्यादि की वृद्धि हो।

यही सब वाणी का तप है।

मन का तप

मनःप्रसादः सौम्यत्वमौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

गीता

अर्थात् (१) मन को सदैव प्रसन्न रखना, किसी प्रकार का भी भीतरी अथवा बाहरी आघात मन पर हो, चाहे, भीतर की कोई चिन्ता उठे, अथवा बाहर से कोई ऐसी बात हो, जिससे मन को क्लेश होने वाला हो—प्रत्येक दशा मे मन की शान्ति को स्थिर रखे। सदा ऐसा प्रसन्न चित्त रहे कि उसके प्रसन्न वदन को देखकर भी प्रसन्नता आ जावे। (२) सौम्यता धारण करे, जैसे चन्द्रमा शीतल और आह्लादकारक होता है, वैसी ही शीतलता और आनन्द को अपने मन मे धारण करने का प्रयत्न करे। (३) मौन धारण करे। मौन-धारण का सदैव यह मतलब नही होता कि मुँह बन्द रखे, कुछ बोले ही नही किन्तु मौन का इतना ही मतलब है कि जितनी आवश्यकता हो, उतना ही बोले, और यदि कभी-कभी बिलकुल ही मौन रहा करे, तो और भी अच्छा। (४) आत्मनिग्रह—अर्थात् अपने आपको वश मे रखना—मन जब बुरे कामो की तरफ जाने लगे, तब उसको रोकना, (५) भाव-संशुद्धि-अर्थात् मन मे सदैव कल्याणकारी भावना आवे, कभी बुरी भावना को धारण न करे। यही सब मन का तप कहलाता है।

इन तीनों प्रकार के सात्विक तपों का प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन मे अभ्यास करना चाहिये। मिथ्या दम्भ से बचना चाहिये।

परोपकार

मनुष्य के सब धर्मों मे श्रेष्ठ परोपकार धर्म है। दूसरे के साथ भला करना, दीन दुखियो पर दया करना, अत्याचार से पीड़ित लोगो की सहायता करना मनुष्य का परम धर्म है। किसी विद्वान् ने कहा है कि—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

अर्थात् अठारहो पुराणों मे, जो महर्षि व्यास के रचे हुए माने जाते है, उसमे व्यास जी के दो ही वचन हैं और ये वचन सब पुराणों के सारभूत हैं। वे दो वचन कौन है ? यही कि, परोपकार के समान कोई पुण्य नही, और परपीडा के समान कोई पाप नही। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है :—

परहित-सरिस धर्म नहिं भाई।
पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

परोपकार के समान कोई धर्म नही, और दूसरे को दुख देने के समान कोई अधर्म नही। जो परोपकार का व्रत लेते है, वही सच्चे साधु है। एक बड़े साधु ने कहा है कि, जो दीनहीन दुखियों को और दूसरे से पीड़ित लोगों को अपना मानता है, उनकी सेवा मे अपना तन, मन, धन अर्पण करता है, वही बड़ा साधु है और उसी मे ईश्वर का निवास है। हमसे यदि कोई पूछे कि ईश्वर कहाँ है, तो हम कहेगे कि, वह सब से पहले परोपकारी पुरुष मे है। ऐसे पुरुषों का अपना कोई नहीं होता—सब अपने होते हैं, जैसी दया ये अपने बच्चो पर करते हैं, अपने दासदासियों पर करते हैं वैसी ही दया दीन-दुखियों

पर अत्याचार पीड़ित लोगों पर करते हैं। अगर देखते हैं, कि किसी देश के लोग अत्याचारी शासन से पीड़ित हो रहे हैं, उन पर जुल्म हो रहा है तो वे उसी जुल्म से उनको छुड़ाने का प्रयत्न करते है। परोपकारी पुरुप देखता है कि अन्धे लूले-लॅंगड़े भूखे-प्यासे और जाड़े से मर रहे हैं तो उन पर दया करके अपनी शक्ति भर उनका दुःख दूर करता है। परोपकारी पुरुष यदि देखता है कि अमुक जगह के लोग अज्ञान-अन्धकार मे डूबे हुए हैं, उनको अपनी मुक्ति का मार्ग नहीं सुझाई दे रहा है, तो वह ऐसे पुरुषों को विद्यादान देकर उनको सुन्दर शिक्षा का प्रबन्ध करके—उनको उस अज्ञान से छुड़ाते हैं। परोपकारी पुरुष सारे संसार पर प्रेम करता है। उसका कोई अपना निज का घर नही है, जिस पर अधिक प्रेम करे। और यदि उसका कोई घर है, तो अपने घर पर भी उतना ही प्रेम करता है, जितना दूसरों पर करता है। इसलिए कहा जाता है कि परोपकारी लोग विश्वबन्धु होते हैं। किसी कवि ने बहुत ठीक कहा है कि :—

> अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
> उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

अर्थात् यह अपना है यह पराया—ऐसा हिसाब तो क्षुद्र हृदय वाले लोगों का है, जिनका तंग दिल है। जो उदार-हृदय पुरुष है, जिनका दिल बड़ा है, उनके लिए तो सारा संसार ही उनका कुटुम्ब है।

इतना ऊॅंचा भाव न लिया जावे, खाली सांसारिक व्यवहार पर ही ध्यान दिया जावे, तो भी परोपकार करना मनुष्य का धर्म ठहरता है। क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्बन्ध पड़ता है। बिना

इसके काम नहीं चल सकता। एक मनुष्य यदि दूसरे के साथ उपकार न करे, तो उसका काम कैसे चले ? जब वह दूसरे के साथ उपकार करेगा, तब दूसरे भी उसके साथ उपकार करेंगे; परन्तु इस प्रकार का उपकार नीचे दरजे का उपकार है। बदला लेने की गरज से यदि हमने किसी के साथ भलाई की, तो क्या की ! सच्चा उपकार तो वही है, जो निष्काम भाव से किया जाय, परोपकार कोई अभिमान की बात नहीं है—यह नहीं कि हमने किसी दूसरे के साथ कोई उपकार किया, तो कोई बड़ा भारी काम कर डाला। परोपकार से दूसरे का हित तो पीछे होता है, पहले अपना हित हो जाता है। परोपकार से हमारी आत्मा उन्नत होती है, हमारे अन्दर सद्भाव बढ़ता है, हमारा हृदय विशाल होता है, नम्रता और सेवा का भाव बढ़ता है। इससे स्वयं हमारे हृदय को भी सुख होता है। इसलिये परोपकारी पुरुष स्वभाव से ही नम्र होते हैं। उनमे अभिमान नहीं होता। परोपकारी किस प्रकार नम्र होते हैं। इस विषय मे कवि ने बहुत ही सुन्दर एक श्लोक कहा है :—

भवन्ति नम्राः तरवः फलोद्गमैः
नवाम्बुभिर्भूरिविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्॥

वृक्ष बड़े भारी परोपकारी है, उनसे हमारा कितना हित होता है। उनमे जब फल आते है तब वे नम्र हो जाते हैं। इसी प्रकार बादल भी हमारे उपकारी हैं उनमे जब पानी भर आता है तब वे भी नीचे लच जाते हैं। इसी प्रकार सज्जन पुरुष वैभव पाकर नम्र हो जाते हैं। परोपकारी पुरुषों का तो यह स्वभाव ही होता है। नम्रता उनका स्वभावसिद्ध गुण है।

सारांश यह है कि परोपकार करते हुए मनुष्य को अभिमान नहीं होना चाहिये, और न सच्चे परोपकारी को कभी अभिमान होता है। आजकल प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जो दूसरों के उपकार के काम करते है वे समझते हैं कि हम तो कोई बडे आदमी है, सब लोगों को हमारा आदर करना चाहिये। परन्तु वास्तव मे परोपकारी का भाव ऐसा होने से उसका सब परोपकार व्यर्थ हो जाता है।

परमात्मा की यह सारी सृष्टि परोपकारमय है। यहाँ पर जड-चेतन स्थावर-जङ्गम, जितनी वस्तुये हैं सब परोपकार के लिये है। एक दूसरे के उपकार से ही यह सृष्टि चल रही है। परमात्मा, हम सब का पिता, ऐसा दयालु और परोपकारी है कि वह जड वस्तुओ से भी हमको परोपकार की ही शिक्षा देता है। किसी कवि ने क्या ही अच्छा कहा है :—

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः।
स्वय न खादन्ति फलानि वृक्षाः ॥
नादन्ति शस्य खलु वारिवाहाः।
परोपकाराय सता विभूतयः ॥

अर्थात् नदियाँ स्वयं पानी नही पीती। वृक्ष स्वय फल नहीं खाते। बादल स्वयं धान्य नही खाते। हमारे लिये जल बरस कर फसल उपजाते है। इसी प्रकार सज्जन पुरुषों के पास जो कुछ द्रव्य होता है, वे उसे अपने काम मे नही लाते। उसे परोपकार मे ही खर्च करते है।

परोपकारी पुरुष जब निष्काम होकर परोपकार करते हैं, तब अन्य लोग स्वयं ही आकर उनकी सेवा करते हैं। जिसने अपना तन, मन, धन, सब कुछ दूसरों के लिए अर्पण कर दिया है, उसके लिये कमी किस बात की ? एक कवि ने कहा है :—

परोपकरण येषा जागर्ति हृदये सताम् ।
नश्यन्ति विपदस्तेषा सपदः स्युः पदे पदे ॥

जिस सत्पुरुष के हृदय मे सदैव परोकार जागृत रहता है, उसकी सारी विपदाएँ नाश हो जाती है, और पद-पद पर उसको सम्पदा मिलती है। पर सम्पदा की उसको परवा कहाँ है? उसको तो सम्पदा और आपदा दोनो बराबर हैं। वह तो अपने परोपकार रूपी भारी कार्य मे मग्न है। राजर्षि भर्तृहरि जी ने ऐसे परोपकारी कार्यकर्त्ता पुरुष की दशा का बहुत ही अच्छा वर्णन किया है :—

क्वचिद् भूमौ शायी क्वचिदपि च पर्यंकशयनम् ।
क्वचिच्छाकाहारो क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ॥
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो ।
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःख न च सुखम् ॥

अर्थात् ऐसा परोपकारी कार्यकर्त्ता पुरुष कभी तो पृथ्वी पर कङ्कडो मे ही सो रहता है, कभी सुन्दर पलंग पर सोता है, कभी शाक खाकर रह जाता है, कभी सुन्दर सुस्वादु भोजन मिल जाते हैं, तो उनसे भी उसे उतना ही सन्तोष होता है—कभी कथडी-गुदडी ओढ़कर ही अपना काम चला लेता है, और कभी सुन्दर रेशमी वस्त्र धारण करने को मिल जाते हैं, तो उन्हीं को पहन लेता है। सच तो यह है कि वह अपने काम मे मस्त रहता है। उसको ऐसे सुख-दुख की परवा नही रहती।

पाठको, आइये हम सब भी अपने जीवन में परोपकार के व्रती बने और दोनो लोकों मे सुखी हों।

———

भक्ति

ईश्वर-भक्ति

जिसने हम सब को, और इस सारे संसार को, रचा है जिसकी प्रेरणा से सूर्य, चन्द्र और तारामण्डल नियमित गति से अपना अपना कार्य करते हैं, जिसकी इच्छा से वायु बहती है, मेघ बरसता है, पृथ्वी मे अन्य वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, ऋतु-परिवर्तन ठीक समय पर होता है, जिसकी शक्ति से सागर अपनी मर्यादा मे ठहरे है और जिसकी सत्तामात्र से सुर-नर-मुनि सब अपना अपना व्यवहार चलाते हैं, वही सर्वशक्तिमान् पुरुषोत्तम ईश्वर के नाम से पुकारा जाता है। वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है। जो कुछ हमको दिखाई देता है, और जो कुछ नहीं दिखाई देता, सब मे वह भरा हुआ है और सब ब्रह्माण्ड उसके पेट मे है। उसकी सत्ता ही सब जगह अनुभव कर के जो मनुष्य संसार मे चलता है, उसकी उस पर विशेष कृपा होती है। वही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। कृष्ण भगवान ने गीता मे कहा है :—

> यतः प्रवृत्तिर्भूताना येन सर्वमिद ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
>
> गीता

जिससे सम्पूर्ण भूतमात्र सारे जड़, चेतन-प्राणी उत्पन्न हुए हैं, और जिनके सामर्थ्य से सारा जगत् चल रहा है, उस परम पुरुष परमात्मा की पूजा, अपने कर्मों के द्वारा, करके ही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। इसलिए दिन-रात,

चौबीसों घन्टे, प्रत्येक कार्य करते हुए, उसका स्मरण रखना मनुष्य का कर्त्तव्य है। अपना सारा व्यवहार उसी के हेतु करके अपने सब कर्म उसको समर्पित करने चाहिये। इसके सिवाय, प्रातःकाल और सायंकाल विशेष रूप से उनकी उपासना करने से चित्त प्रसन्न रहता है, हृदय मे बल आता है, और परमात्मा की सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता का अनुभव करके मनुष्य बुरे कर्मों से बचा रहता है। देखिये, उपनिषद् मे कहा है :—

स्वप्नान्त जागरितान्त चोभौ येनानुपश्यति।
महान्त विभुमात्मन मत्वा धीरो न शोचति॥

उपनिषद्

अर्थात् प्रातःकाल सोने के अन्त मे और सायंकाल, जागृत अवस्था के अन्त मे, जो धीर पुरुष उस महान् सर्वव्यापक परमात्मा की उपासना और स्तुति करता है उसको किसी प्रकार का शोच नहीं होता। इसलिये आबालवृद्ध स्त्री पुरुष सबका यह परम धर्म है कि वह सुवह चारपाई से उठते ही और रात को सोने से पहले इस प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करे :—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव।
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव॥
त्वमेव विद्या द्रविण त्वमेव।
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

हे देवों के देव भगवान, आप ही हमारे माता हैं, और आप ही पिता हैं, आप ही वन्धु है, और आप ही सखा हैं, आप ही विद्या है, और आप ही हमारे धन हैं। (कहाँ तक कहे) आप ही हमारे सर्वस्व है।

य ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति य सामगा.॥

ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति य योगिनो ।
यस्यान्त न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र और मरुत्गण दिव्य स्तोत्रों से जिसकी स्तुति करते है, सामगायन करने वाले लोग, षडंग, पद, क्रम और उपनिषदों के साथ वेदो द्वारा जिनका गान करते है, योगीजन ध्यानावस्थित होकर तदाकार मन से, जिसको देखते हैं, सुर और असुर भी जिसका अन्त नही पाते, उस परम पिता परमात्मा को नमस्कार है ।

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय ।
नमोऽद्वैततत्वाय मुक्तिप्रदाय नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ॥

संसार को उत्पन्न करने वाले उस अनादि, अनन्त परमात्मा को नमस्कार है । सम्पूर्ण लोगों के आश्रयभूत उस चैतन्यस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है । मुक्ति देनेवाले उस अद्वैत तत्त्व को नमस्कार है । हे सदा सर्वदा रहने वाले, सर्वव्यापी ईश्वर, आपको नमस्कार है ।

त्वमेक शरण्य त्वमेक वरेण्य त्वमेक जगत्पालक स्वप्रकाशम् ।
त्वमेक जगत्कर्तृ पातृ प्रहर्तृ त्वमेक पर निश्चल निर्विकल्पम् ॥

हे भगवान्, तुम ही एक शरण देनेवाले हो, तुम ही एक भक्ति करने योग्य हो, तुम्ही एक संसार का पालन करने वाले और प्रकाशस्वरूप हो, तुम्ही एक ससार की रचना पालन और हरण करनेवाले हो, तुम्ही एक सबसे श्रेष्ठ, निश्चल और निर्विकल्प हो—अर्थात् तुम्हारा कभी नाश नही है, और तुम कल्पना से बाहर हो ।

भयाना भय भीषण भीषणाना गतिः प्राणिना पावन पावनानाम् ।
महोच्चैः पदाना नियन्तृ त्वमेक परेषा पर रक्षण रक्षणानाम् ।

तुम्ही एक भयों के भय और भीषणों के भीषण हो, सब प्राणियों के एकमात्र गति तुम ही हो, पावनों को भी पावन करने वाले हो, बड़ो से बड़ो के भी तुम ही एक नियन्ता हो। तुम श्रेष्ठों मे भी श्रेष्ठ हो, और रक्षकों के भी रक्षक हो।

त्वमादिदेव. पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥

हे अनन्तरूप, तुम्हीं आदिदेव हो, तुम्ही पुराण पुरुष हो, तुम्ही इस विश्व के परम निधान हो। तुम्हीं सबके जानन हारे हो, और (इस संसार मे) जो कुछ जानने योग्य है, सो भी तुम्हीं हो। तुम्हीं परम धाम हो और (हे भगवान्!) तुम्ही ने इस सारे संसार को फैलाया है।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिक. कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥

भगवन्! इस चराचर जगत् के पिता तुम्ही हो, और तुम्हीं सबके पूजनीय सद्गुरु हो। तुम्हारे समान और कोई नही फिर तुम से बड़ा और कौन हो सकता है? तीनों लोक मे आपका अनुपम प्रभाव है।

इस प्रकार सुबह-शाम परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना करके वेदमन्त्र से इस प्रकार उससे वरदान माँगना चाहिए :—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्य्यमसि वीर्य्यं मयि धेहि। बलमसि बल मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि। मन्युरसि मन्यु मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि।

हे परमपिता परमात्मन्, आप प्रकाशस्वरूप हैं, कृपाकर मुझ में प्रकाश स्थापन कीजिये। आप अनन्त-पराक्रम-युक्त है, इसलिए मुझ में अपने कृपाकटाक्ष से पूर्ण पराक्रम धरिये। आप अनन्त-

बलयुक्त है, इस लिए मुझ मे भी बल धारण कीजिये। आप अनन्तसामर्थ्ययुक्त हैं, इसलिए मुझको भी पूर्ण सामर्थ्य दीजिए। आप दुष्ट कार्यों और दुष्टों पर क्रोध करने वाले हैं, मुझको भी वैसा ही बनाइये। आप निन्दास्तुति और अपने अपराधियों को सहन करने वाले हैं, कृपा करके मुझको भी वैसा ही सहनशील बनाइये।

यही ईश्वर-भक्ति का फल है कि सब ईश्वरीय गुणों को हम अपने हृदय मे धारण करें। ईश्वर का सच्चा भक्त वही है, जो उसकी आज्ञा के अनुसार चलकर, स्वयं सुख पाता और संसार को सुखी करते हुए अपनी जीवन यात्रा पवित्रतापूर्वक पूर्ण करता है।

गुरुभक्ति

माता-पिता आचार्य और जितने लोग हमसे विद्याबुद्धि और अवस्था मे बड़े है, सब गुरु हैं। उनका आदर सम्मान और सेवा करना धर्म है। बडे लोगों की सेवा से क्या लाभ होता है, इस विषय मे मनुजी कहते हैं :—

> अभिवादनशीलस्य नित्य वृद्धोपसेविनः।
> चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्यायशोबलम् ॥
>
> मनु०

अर्थात् जो लोग नम्र और सुशील होते है, और प्रति दिन विद्वान् वृद्ध पुरुषों की सेवा करते रहते है, उनकी चार बातें बढ़ती है—आयु, विद्या, यश और बल।

वृद्ध लोगों के पास बैठने-उठने, उनकी सेवा करने, उनकी आज्ञा मानने से वे ऐसा उपदेश करते हैं, और स्वयं भी उनका

सदाचरण देखकर हमारे ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि जिससे हमारी आरोग्यता और चित्त की शान्ति बढ़ती है, जिससे आयु की वृद्धि होती है। उनका अनुभव, ज्ञान इतना प्रभावशाली होता है कि उसको देख सुनकर हमारी विद्या और जानकारी बढ़ती है, और इसी प्रकार उनका सत्सङ्ग करने से यश और उनका ब्रह्मचर्य इत्यादि देखकर शारीरिक बल बढ़ता है। शतपथ ब्राह्मण मे कहा है :—

मातृमान् पितृमान् आचार्यमान् पुरुषो वेद ।

शतपथ०

अर्थात् जिसके माता-पिता, आचार्य इत्यादि गुरुजन विद्वान्, शूरवीर और बुद्धिमान हैं, वही पुरुष ऐसा हो सकता है। वृद्धों को देखते ही, उनका किस प्रकार अभिवादन और स्वागत सत्कार करना चाहिए, इस विषय मे भगवान् मनु कहते हैं :—

अभिवादयेद् वृद्धाश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम्।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात्॥

मनु०

अर्थात् जब वृद्ध लोग हमारे पास आवे, तब उठकर बड़ी नम्रता के साथ उनको प्रणाम करे और अपना आसन उनको देकर स्वयं उनके नीचे बैठे, फिर बड़ी नम्रता और सुशीलता से उनसे वार्तालाप करे; उनका सत्कार करे, और जब वे चलने लगे, तब कुछ दूर तक उनके पीछे-पीछे जावें।

ये विनय और नम्रता के भाव मनुष्य मे श्रद्धा और भक्ति पैदा करते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि हम वृद्ध किसको समझे? क्या जिसके बाल पक गये हैं, रीढ़ झुक गयी है, शरीर मे झुर्रियाँ पड़ गई हैं, वही वृद्ध है? महर्षि मनु इसका उत्तर देते हैं :—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥

मनु०

अर्थात् जिसकी उम्र ज्यादा है, अथवा जिसके बाल सफेद हो गये हैं, अथवा जिसके पास धन अथवा जन बहुत है, वही वृद्ध नही है, किन्तु ऋषियों के मत से वृद्ध वही है जो विद्या, धर्म, विज्ञान, अनुभव, सदाचार, इत्यादि बातो मे बड़ा है—फिर चाहे वह बाल, वृद्ध, युवा, स्त्री, पुरुष-कोई हो, उसकी भक्ति और सेवा मनुष्य को अवश्य करनी चाहिए। बड़े-बूढ़ों के साथ कैसा बर्त्ताव होना चाहिए, इस विषय मे व्यास जी ने महाभारत मे कहा है :—

गुरुणा चैव निर्बन्धो न कर्त्तव्यः कदाचन ।
अनुमान्यः प्रसाद्यश्च गुरुः क्रुद्धो युधिष्ठिर ॥

महाभारत

अर्थात् हे महाराज युधिष्ठिर, बड़े बूढ़ों के साथ कभी हठ और वादविवाद नही करना चाहिए। वे कदाचित् क्रोध भी करे, तो स्वय नम्रता धारण करके उनको प्रसन्न करना चाहिए। सब गुरुओं मे श्रेष्ठ माता है। इनके समान कोई देवता संसार मे नही है। महाभारत निर्वाणपर्व मे कहा है :—

गुरूणा चैव सर्वेषा माता परमको गुरुः ।
माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा ॥

महाभारत

सब गुरुओं मे माता सर्वश्रेष्ठ गुरु है। परन्तु उसके बाद फिर पिता का नम्बर है। माता पृथ्वी से भी गुरुतर है, और पिता आकाश से भी ऊँचा है। दोनों का आदर करना चाहिए।

परन्तु आचार्य का दरजा भी कुछ कम न हो। व्यास जी कहते हैं:—

शरीरमेतौ सृजतः पिता माता च भारत।
आचार्य-शास्ता या जाति. सा सत्या साऽजराऽमरा ॥

महाभारत।

पिता माता तो केवल शरीर को ही जन्म देते है, परन्तु आचार्य ज्ञान और सदाचार, इत्यादि की शिक्षा देकर मनुष्य को जो ज्ञान देता है, वह सत्य, अजर और अमर है इसलिये :—

शुश्रूषते य· पितर नासूयति कदाचन।
मातर भ्रातर वापि गुरुमाचार्यमेव च ॥
तस्य राजन् फल विद्धि स्वर्लोके स्थानमर्चितम् ॥

महाभारत

हे राजन्, जो मनुष्य माता-पिता, भाई, आचार्य इत्यादि वडे बूढ़े स्त्री पुरुषो का आदर-सत्कार करता है, उनकी सेवा शुश्रुषा करता है, उनसे कभी द्वेष नहीं करता है, उसको परम सुख प्राप्त होता है। इसलिये —

श्रावयेन्मदुला वाणीं सर्वदा प्रियमाचरेत्।
पित्रोराज्ञानुसारी स्यात्स पुनः कुलपावनः ॥

महाभारत

माता पिता इत्यादि वडे लोगों के सामने सदा मधुर वचन वोलो और सदा ऐसा ही आचरण करो जो उनको प्रिय हो। जो पुत्र माता-पिता की आज्ञा मे चलता है वह अपने कुल को पवित्र करता है। माता पिता अपने पुत्रों से क्या आशा रखते है? क्या उनको कोई स्वार्थ है? नहीं वे तो यही चाहते है कि सब प्रकार हमारे पुत्र और पुत्री सुखी रहें। महर्षि व्यास जी इस विषय मे कहते है :—

आशसन्ते हि पुत्रेषु पिता माता च भारत ।
यशः कीर्तिमथैश्वर्यं प्रजा धर्मं तथैव च ॥
तयोराशान्तु सफला यः करोति स धर्मवित् ॥

महाभारत

माता-पिता इत्यादि पुत्र पुत्री से यही आशा रखते हैं कि, हमारी सन्तान यशस्वी, कीर्तिवान् , ऐश्वर्यवान् हो, सन्तान भी उत्पन्न करे, और धर्म से चले। बस यही आशा उनको होती है, और इस आशा को जो मनुष्य पूर्ण करता है, वही धर्म को जानता है।

बड़ा भाई भी पिता के तुल्य होता है। वह भी गुरु है। इसके विषय मे महाभारत मे इस प्रकार कहा है :—

ज्येष्ठो भ्राता पितृसमो मृते पितरि भारत ।
स ह्येषा वृत्तिदाता स्यात् स चैतान् परिपालयेत् ॥

अर्थात् जेठा भाई पिता के समान है, इसलिए उनको उचित है कि अपने छोटे भाई बहिनों को निर्वाह मे लगाकर उनका-पालन-पोषण करे। छोटे भाइयों को भी उचित है कि :—

कनिष्ठास्त नमस्येरन् सर्वे छन्दानुवर्तिनः ।
तमेव चोपजीवेरन् यथैव पितरं तथा ॥

वे बड़े भाई को आदरपूर्वक नमस्कार किया करे; और जिस प्रकार वह आज्ञा करे, वैसा ही बर्ताव रखे, और पिता की तरह उसकी सेवा किया करे।

इसी प्रकार चाचा-चाची, भाई-भौजाई, नाना-नानी, मामा-मामी, सास-ससुर, सब बड़े-बूढ़े इष्ट कुटुम्बियों के साथ गुरु का बर्ताव करके उनका आदर-सत्कार करना चाहिये। सब के परस्पर प्रसन्न रहने से बड़ा आनन्द रहता है।

स्वदेश-भक्ति

अपनी जन्मभूमि पर श्रद्धा और भक्ति होना भी मनुष्य का एक बड़ा भारी गुण है। जिस देश मे हम पैदा हुये हैं, जिसके अन्न जल से हमारा शरीर पला, जिस देश के निवासियों के सुख दुःख से हमारा गहरा सम्बन्ध है, उस देश के विषय मे अभिमान होना—उसकी भक्ति करना—हमारा परम कर्त्तव्य है। कहा है कि—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है। स्वर्ग का सुख तो केवल हम कानों से सुनते मात्र है, उसका कुछ भी अनुभव इस जन्म मे हमको नहीं है, परन्तु अपनी मातृभूमि का दिया हुआ सुख हम पद पद पर अनुभव करते हैं। घी, दूध, मिठाई सुन्दर अन्न-वस्त्र इत्यादि इस भूमि से पाकर हम सुखी होते है, अपनी जन्मभूमि का स्वास्थ्य वर्धक जलवायु पाकर हम आनन्दित होते हैं। नाना प्रकार की औषधियाँ प्रदान करके यही भूमि रोग के समय हमारी रक्षा करती है। इसके मनोहर प्राकृतिक दृश्यो को देखकर हमारा चित्त प्रफुल्लित होता है। जन्म भूमि के तीर्थस्थानो पर जाकर हम अपनी आत्मा और मन को पवित्र करते हैं। इसी की गोद मे उत्पन्न होने वाले साधु महात्माओं की सत्संगति करके हम अपने चरित्र को सुधारते हैं। इसी भूमि पर प्राचीन काल मे जो ऋषि-मुनि तथा विद्वान हो गये है। उनके नाना प्रकार के शास्त्रों को पढ़ कर हम अपना ज्ञान बढाते है। इसी देश से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं से हमको जीविका मिलती है। कहा तक कहे स्वदेश का मनुष्य के जीवन से पद पद पर सम्बन्ध है, और इसलिये विद्वानों ने इसको स्वर्ग से श्रेष्ठ माना है।

आशसन्ते हि पुत्रेषु पिता माता च भारत।
यशः कीर्तिमथैश्वर्यं प्रजा धर्मं तथैव च ॥
तयोराशान्तु सफला यः करोति स धर्मवित् ॥

महाभारत

माता-पिता इत्यादि पुत्र पुत्री से यही आशा रखते हैं कि, हमारी सन्तान यशस्वी, कीर्तिवान् , ऐश्वर्यवान् हो, सन्तान भी उत्पन्न करे, और धर्म से चले। बस यही आशा उनको होती है, और इस आशा को जो मनुष्य पूर्ण करता है, वही धर्म को जानता है।

बड़ा भाई भी पिता के तुल्य होता है। वह भी गुरु है। इसके विषय मे महाभारत मे इस प्रकार कहा है:—

ज्येष्ठो भ्राता पितृसमो मृते पितरि भारत।
स ह्येषा वृत्तिदाता स्यात् सा चैतान् परिपालयेत् ॥

अर्थात् जेठा भाई पिता के समान है, इसलिए उनको उचित है कि अपने छोटे भाई बहिनों को निर्वाह मे लगाकर उनका-पालन-पोषण करे। छोटे भाइयों को भी उचित है कि:—

कनिष्ठास्त नमस्येरन् सर्वे छन्दानुवर्तिनः।
तमेव चोपजीवेरन् यथैव पितरं तथा॥

वे बड़े भाई को आदरपूर्वक नमस्कार किया करे, और जिस प्रकार वह आज्ञा करे, वैसा हो बर्ताव रखे, और पिता की तरह उसकी सेवा किया करे।

इसी प्रकार चाचा-चाची, भाई-भौजाई, नाना-नानी, मामा-मामी, सास-ससुर, सब बड़े-बूढ़े इष्ट कुटुम्बियों के साथ गुरु का बर्ताव करके उनका आदर-सत्कार करना चाहिये। सब के परस्पर प्रसन्न रहने से बड़ा आनन्द रहता है।

स्वदेश-भक्ति

अपनी जन्मभूमि पर श्रद्धा और भक्ति होना भी मनुष्य का एक बड़ा भारी गुण है। जिस देश मे हम पैदा हुये हैं, जिसके अन्न जल से हमारा शरीर पला, जिस देश के निवासियों के सुख दुःख से हमारा गहरा सम्बन्ध है, उस देश के विषय मे अभिमान होना—उसकी भक्ति करना—हमारा परम कर्त्तव्य है। कहा है कि—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है। स्वर्ग का सुख तो केवल हम कानों से सुनते मात्र है, उसका कुछ भी अनुभव इस जन्म मे हमको नहीं है, परन्तु अपनी मातृभूमि का दिया हुआ सुख हम पद पद पर अनुभव करते है। घी, दूध, मिठाई सुन्दर अन्न-वस्त्र इत्यादि इस भूमि से पाकर हम सुखी होते है, अपनी जन्मभूमि का स्वास्थ्य वर्धक जलवायु पाकर हम आनन्दित होते है। नाना प्रकार की औषधियाँ प्रदान करके यही भूमि रोग के समय हमारी रक्षा करती है। इसके मनोहर प्राकृतिक दृश्यों को देखकर हमारा चित्त प्रफुल्लित होता है। जन्म भूमि के तीर्थस्थानों पर जाकर हम अपनी आत्मा और मन को पवित्र करते हैं। इसी की गोद मे उत्पन्न होने वाले साधु महात्माओं की सत्संगति करके हम अपने चरित्र को सुधारते हैं। इसी भूमि पर प्राचीन काल से जो ऋषि-मुनि तथा विद्वान् हो गये हैं। उनके नाना प्रकार के शास्त्रों को पढ़ कर हम अपना ज्ञान बढ़ाते हैं। इसी देश से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं से हमको जीविका मिलती है। कहाँ तक कहे स्वदेश का मनुष्य के जीवन से पद पद पर सम्बन्ध है, और इसलिये विद्वानों ने इसको स्वर्ग से श्रेष्ठ माना है।

हमारा देश भारतवर्ष है। इसका प्राचीन नाम आर्यावर्त्त है। 'आर्यावर्त्ते भरतखण्डे पुण्यक्षेत्र' इत्यादि कह कर हम प्रत्येक शुभकर्म पर संकल्प पढ़ा करते हैं। इसका भी यही तात्पर्य है कि हम इस पुण्यक्षेत्र-भरतखंड आर्यावर्त्त को सदैव याद रखे। कोई भी शुभ कार्य करने लगे, अपने देश का भक्तिपूर्वक स्मरण कर लो।

आर्यावर्त्त का अर्थ यह है कि जहॉ आर्य लोग बारबार अवतार लेवे। आर्य कहते है श्रेष्ठ को। इस प्रकार यह सृष्टि के आदि से ही श्रेष्ठ पुरुषों के अवतार की भूमि है। जब सम्पूर्ण संसार अज्ञान मे था, जो लोग आज हमको सभ्य बनाने आये है, वे जिस समय जंगली अवस्था मे फिरते थे उस समय आर्यावर्त्त मे ऋषि मुनि और ज्ञानी लोग हुये थे। और यही से चारो ओर ज्ञान का प्रकाश फैला था। इसी हमारी मातृभूमि के गगन मे पहला प्रभात हुआ। यही के तपोवनों मे पहले वेद मंत्रो का गान हुआ! ज्ञान, धर्म और नीति का प्रचार सारे संसार मे यहीं से हुआ। महर्षि मनु ने कहा है :—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः
> स्व स्वं चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवाः॥
>
> मनु०

अर्थात् इसी देश के उत्पन्न हुये ब्राह्मणों—अर्थात् विद्वानो से सम्पूर्ण पृथ्वी के लोग अपने अपने चरित्र की शिक्षा ले। मनुजी के इस कथन से मालूम होता है कि, उस समय सृष्टि के आदि मे हमारा ही देश सब से अधिक सुसभ्य और विद्वान था। इसलिये इसका नाम पुण्यक्षेत्र और स्वर्ण भूमि था। इस स्वर्णभूमि मे जितने विदेशी लोग जब जब आये, खूब धनवान् बन गये। पारस मणि यही भूमि है। लोहरूप दरिद्री विदेशी इस

को छूते ही सोना, अर्थात् धनाढ्य बन जाते है। अब भी यही बात है।

किसी समय इस देश के राजा—क्षत्रिय लोग—सम्पूर्ण पृथ्वी मे राज्य करते थे। विदेश मे जाकर उन्होंने अपने उपनिवेश बसाये थे, और अपनी सभ्यता तथा धर्म का प्रचार किया था। महाभारत के वर्णन से जान पड़ता है कि, पाण्डवों ने अपने दिग्विजय मे अनेक विदेशियों को जीता था। वही आर्यावर्त्त की पवित्र भूमि इस समय बुरी दशा मे हो रही है। सच कहते हैं—"पराधीनता सपनेहुँ सुख नाहीं।" इसलिये आज इस देश के निवासी बात बात मे दूसरों का मुँह ताक रहे है। यह सब हमारे ही कर्मों का फल है। हम इस बात को भूल गये कि हमारा देश एक कर्मभूमि है। हम कर्म को छोड़ कर भोग मे पड़ गये, और झूठे कर्म, अर्थात् भाग्य पर भरोसा करके बैठे रहे। आपस की फूट ने हमारी अकर्मण्यता को सहारा दिया, और हम अपना सब कुछ खो बैठे।

भाइयों, अब तो जग जाओ, अपनी जन्मभूमि की प्राचीन महिमा और गौरव का स्मरण करो। कर्म करने मे लग जाओ। इस भारत भूमि मे जन्म पाना बड़े सौभाग्य की बात है, क्योंकि कर्म हम यही पर कर सकते हैं। अन्य सब देश भोगभूमि है। कर्मभूमि यही है। कहा है कि—

दुर्लभ भारते जन्म मनुष्य तत्र दुर्लभम्

अर्थात् इस भारतवर्ष मे—इस आर्यभूमि मे—जन्म पाना दुर्लभ है और फिर मनुष्य का जन्म पाना तो और भी दुर्लभ है; क्योंकि मनुष्य शुभ काम इसी जन्म मे और इसी भूमि मे कर सकता है, और कर्म करते हुये ही मनुष्य को सौ वर्ष तक जीवित रहने के लिये यजुर्वेद मे कहा है :—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः ।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

यजुः०

अर्थात् मनुष्य कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की अभिलाषा करे, क्योंकि ऐसा करने से ही उसको कर्म बाधा नहीं देंगे। वह उनमे लिप्त नहीं होगा।

भारतभूमि गरीबी मे फँसी हुई है। उसको छुड़ाओ। इसके वीर बालक बनो, और सत्कर्म करके इस लोक और परलोक को सफल करो। भारत भूमि मे जन्म लेने के लिये देवता तक तरसते है। वे इसके गीत गाते है :—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गस्य फलार्जनाय,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

अर्थात् देवगण इस भारतभूमि के पुण्यगीत गाते हैं, और कहते हैं कि, हे भारतभूमि, तू धन्य है, धन्य है! स्वर्ग और मोक्ष का फल सम्पादित करने के लिये वे देवता लोग अपने देवपन से यहाँ मनुष्य जन्म धारण करने आते हैं। पाठकों, ऐसी पुण्य-भूमि मे बड़े भाग्य से हमने मनुष्य की देह पाई है। अब इसको सार्थक करो। जिस तरह हो सके, माता को महान् संकट से छुड़ाओ। यह दीन हीन होकर आशापूर्ण नेत्रों से तुम्हारी ओर देख रही है। इसकी सुध लो तन, मन, धन, बल-वीर्य, सब खर्च करके स्वधर्म और स्वदेश की सेवा मे लग जाओ। जब तक भारतभूमि का उद्धार नहीं होगा, संसार मे शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। भारत के उद्धार पर ही संसार के अन्य देशों

की शान्ति निर्भर है। इसी देश ने किसी समय संसार को शान्ति और सुख का संदेश दिया था और फिर भी इसी की बारी है। परन्तु जब तक यह स्वयं अपना उद्धार न कर ले, दूसरे का उद्धार कैसे कर सकता है?

इसलिए सबको मिला कर अपनी जननी-जन्मभूमि की सेवा मे लग जाना चाहिये।

———

अतिथि-सत्कार

जिसके आने की कोई तिथि नियत न हो और अचानक आ जाय, उसको अतिथि कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का आदर-सत्कार करना मनुष्य का परम धर्म है। परन्तु वह अतिथि कैसा हो? धार्मिक हो, सत्य का उपदेश करनेवाला हो, संसार के उपकार के लिए भ्रमण करता हो, पूर्ण विद्वान् हो। ऐसे ही अतिथि की सेवा से गृहस्थ को उत्तम फल मिलता है। ऐसा अतिथि यदि घर मे अचानक आ जाय तो—

> सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
> अन्न चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥

उसका सम्मान के साथ स्वागत करे। उसको प्रथम पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय, तीन प्रकार का जल देकर फिर आसन, पर सत्कार पूर्वक बिठाले। इसके बाद सुन्दर भोजन और उत्तमोत्तम पदार्थों से उसकी सेवा शुश्रूषा करके उसको प्रसन्न करे। इसके बाद स्वयं भोजन करके फिर उस विद्वान अतिथि के पास बैठकर, नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के प्रश्न करके उससे धर्म, काम, मोक्ष का मार्ग पूछे, और उसके सत्संग से लाभ उठाकर अपना आचरण सुधारे। यही अतिथि पूजन का फल है।

आजकल प्रायः बहुत से पाखण्डी साधु, संन्यासी, वैरागी घूमा करते है, और गृहस्थों के द्वार पर पहुँच जाते हैं, परन्तु इनमे से अधिकांश लोग धूर्त और बदमाश होते है। इनको

अतिथि नहीं समझना चाहिये। महर्षि मनु ने ऐसे लोगों की सेवा का निषेध किया है:—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥

मनु०

अर्थात् ऊपर से साधु का भेष बनाए हुए, परन्तु भीतर से दुराचारी वेदविरुद्ध आचरण करने वाले, बिलार की तरह परधन और परस्त्री की ताक लगाने वाले, शठ—मूर्ख, हठी, दुराग्रही, अभिमानी, आप जाने नही दूसरे की माने नहीं, कुतर्की, व्यर्थ बकनेवाले, बकवृत्ति, बगुला-भगत, ऊपर से शान्त दिखाई देवे, परन्तु मौका आते ही दूसरे का घात करे—इस प्रकार के साधु सन्यासी आजकल बहुत दिखाई देते हैं और मूर्ख गृहस्थ स्त्री—पुरुष इनकी धुन मे आकर अपना सर्वस्व नाश करते हैं, परन्तु महर्षि मनु कहते हैं कि इनका—

"वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥"

सत्कार वाणीमात्र से भी न करना चाहिये—अर्थात् इनसे अच्छी तरह बोलना भी न चाहिये। ये आवे, और अपमान पूर्वक चले जावे। क्योंकि यदि इनका आदर किया जायगा तो ये पिंड नहीं छोड़ेंगे, और भी बढेंगे, और अपने साथ ही संसार को भी ले डूबेंगे।

ऐसे पाखंडियों को छोड़कर यदि कोई भी सज्जन फिर चाहे किसी कारण से वह हमारा शत्रु ही क्यों न बन गया हो, वह भी यदि कुसमय का मारा हमारे घर आ जाय, तो उसका भी आदर करना चाहिये। हितोपदेश मे कहा है:—

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।
छेत्तुः पार्श्वगता छाया नोपसंहरते तरुः ॥

हितोपदेश

अर्थात् जैसे कोई मनुष्य किसी वृक्ष पर बैठा हुआ उस पेड़ को काट रहा हो, परन्तु फिर भी वह पेड़ उस मनुष्य के ऊपर से अपनी छाया को नहीं हटा लेता है, अपनी छाया से उसको सुख ही देता है, उसी प्रकार मनुष्य को उचित है कि शत्रु भी यदि अकस्मात् हमारे आश्रम को पाने के लिये घर आ जाय, तो उसका भी आदर करे।

गृहस्थ के लिए अतिथि-यज्ञ सबसे श्रेष्ठ माना गया है। धर्मग्रन्थों मे कहा है:—

न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिर्वह्निशुश्रूषया तथा ।
गृही स्वर्गमवाप्नोति यथा चातिथिपूजनात् ॥
काष्ठभारसहस्रेण घृतकुम्भशतेन च ।
अतिथिर्यस्य भग्नाशस्तस्य होमो निरर्थकः ॥

अर्थात् यज्ञ, दान, अग्निहोत्र, इत्यादि से गृहस्थ को उतना फल नही मिल सकता, जितना अतिथि की पूजा से। चाहे हजारों मन काठ और सैकड़ो घड़े घी से होम करे, पर यदि अतिथि निराश गया, तो उसका वह होम व्यर्थ है। इसलिए अतिथि-सत्कार अवश्य करना चाहिए।

मान लो कि हम बड़े दरिद्री है, हमको स्वयं अपने बाल बच्चों के पालने के लिए अन्न नही है, फिर हम अतिथि को कहाँ से खिलावे ? इस पर धर्म तो यही कहता है कि चाहे बाल बच्चे भूखों मर जायँ, और स्वयं भी भूखों मरे जाय, पर अतिथि विमुख न लौटे। हमारे पुराणों मे तो अतिथि-सेवा के ऐसे उदाहरण हैं कि यदि अतिथि ने किसी गृहस्थ की अतिथि-सेवा

की परीक्षा लेने के लिये उसके बालक का मांस मांगा, तो व
भी गृहस्थ ने दिया। पर वे अतिथि भी इतने समर्थ होते थे
बालक को फिर जीवित करके चले जाते थे, पर आज-कल
तो ऐसे अतिथि है और न ऐसे अतिथि-सेवक। अस्तु। य
कुछ भी घर मे न हो, उसके लिये महाभारत मे व्यासजी
कहा है :—

> तृणानि भूमिरुदक वाक् चतुर्थी च सूनृता।
> सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन।

महाभा

अर्थात् तृण, भूमि, जल और सुन्दर सच्चे वचन, ये चार व
तो किसी भी दरिद्री से भी दरिद्री भले आदमी के घर मे रहे
ही। इन्ही से अतिथि सत्कार करे—अर्थात् तृण का आ
देकर उसको कम से कम शीतलजल से ही प्रसन्न करे, अ
फिर उससे ऐसी ऐसी बाते करे, जिससे उसका चित्त सन्
हो, चाणक्य मुनि ने अपनी नीति मे कहा है :—

> प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
> तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥

चाणक्यनी

अर्थात् प्रिय वचन बोलने से ही सब प्राणी सन्तुष्ट हो
है। इसलिये कम से कम प्रिय वचन तो सब को अवश्य
बोलना चाहिये। वचन मे क्या दरिद्रता ?

यह तो गये-गुजरे हुये घरों की बात हुई, परन्तु जो स
गृहस्थ हैं, उनको विधिपूर्वक अतिथि-सत्कार करना चाहि
ऐसा नहीं कि, स्वयं आप तो बढ़िया-बढ़िया भोजन करे,
अतिथि को मामूली भोजन करा दे, इस विषय मे महर्षि मनु
कहा है :—

न वै स्वय तदश्नोयादतिथि यन्न भोजयेत् ।
धन्य यशस्यमायुष्य स्वर्ग्यं चातिथिपूजनम् ॥

मनु०

अर्थात् जो भोजन अतिथि को न कराया हो वह भोजन आप स्वयं भी न करे—पक्तिभेद न होने दे। इस प्रकार कपट रहित होकर जो अतिथि की सेवा करते है, उनको धन, यश, दीर्घायु और स्वर्ग प्राप्त होता है।

अतिथि सेवा करते समय जाति-पॉत का भी भेद नही रखना चाहिये। जो कोई आ जावे, परन्तु पाखण्डी साधु न हो, उसका सत्कार करना चाहिये। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—चाहे चांडाल भी हो, उस पर दया कर के भोजन इत्यादि देना मनुष्य का परम पवित्र कर्त्तव्य है। मनुजी कहते हैं :—

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ ।
भोजयेत्सहभृत्यैस्तावानुशस्य प्रयोजनम् ॥

मनु०

अर्थात् अतिथि धर्म से यदि वैश्य-शूद्रादि तक कुटुम्ब मे आ जावे तो उन पर भी दया करके, भृत्यों-सहित, भोजन करा देवे।

अतिथि यज्ञ केवल भोजन से ही समाप्त नहीं होता है, किन्तु शास्त्र मे उसकी पॉच प्रकार की दक्षिणा भी बतलाई गई है। यह दक्षिणा जब तक न देवे तब तक अतिथि यज्ञ पूर्ण नहीं हो सकता :—

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाच दद्याच्च सूनृता ।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञपञ्चदक्षिणा ॥

अर्थात् अतिथि जब तक अपने घर मे रहे, उसकी ओर प्रेम और आनन्दपूर्ण दृष्टि से देखे, उसकी सेवा मे पूरा पूरा मन

लगावे, सुन्दर और सत्य वाणी बोलकर उसको आनन्दित करे, अपने समागम से उसको पूर्ण सुख देने का प्रयत्न करे, और जब वह विदा होने लगे, तब थोडी दूर उसके पीछे-पीछे चलकर उसको प्रसन्न करे।

प्रायश्चित्त और शुद्धि

मनुष्य की प्रकृति स्वाभाविक ही कमजोर होती है, और वह अनेक सासारिक प्रलोभनों मे आकर, जान-बूझकर, अथवा बिना जाने, नाना प्रकार के पाप करता है। पाप कर्मों का फल उसको प्रत्यक्ष रूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य ही भोगना पड़ता है। जैसा कि कहा है :—

अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्।

परन्तु जो पाप हो चुका है, उस प्रकार के पापों मे फिर मनुष्य न फँसे। इसलिए शास्त्रों मे अनेक प्रकार के पापों के लिए अनेक प्रकार के प्रायश्चित बतलाये गये हैं, और हिन्दूधर्म का विचार है कि उन प्रायश्चितों के कर लेने से किये हुये पापों का मोचन हो जाता है। और सचमुच ही पाप कर्म का फल जो दुःखभोग है, वह जप, तप, व्रत इत्यादि के द्वारा स्वयं अपने ऊपर ले लेने से—प्रायश्चित्त कर लेने से—पूर्ण हो जाता है, और मनुष्य आगे के लिए शुद्ध हो जाता है। अस्तु। पाप अनेक हैं, परन्तु उनमे सबसे बड़े पाप मनुजी ने इस प्रकार बतलाये हैं :—

ब्रह्महत्या सुरापान स्तेय गुर्वंगनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः ससर्गश्चापि तैः सह॥

मनु०

ब्राह्मणों और सज्जनों की हत्या, मदिरा पीना, चोरी करना,

किसी माननीय गुरु की स्त्री, अथवा अन्य किसी दूसरे की स्त्री से व्यभिचार करना, ये बड़े भारी पाप हैं। और इन बातों से संसर्ग रखना भी एक बड़ा भारी पाप है।

इसका सारांश यही है कि हत्या, मदिरापान, चोरी, और व्यभिचार तथा इन पापों के करने वाले मनुष्यो का संसर्ग ये पाँच बड़े भारी पातक है। इन पातको तथा इसी प्रकार के अन्य भी सैकड़ो छोटे-मोटे पातकों के अनेक प्रायश्चित्त-व्रत, उपवासों, जप-तप इत्यादि के रूप मे मनुस्मृति, इत्यादि स्मृतिग्रन्थों मे लिखे हुए है। मनुस्मृति के ग्यारहवे अध्याय मे अनेक प्रायश्चित का वर्णन करने के बाद मनु जी ने लिखा है :—

ख्यापनेनानुपातेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि॥
यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते॥
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते॥
कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते।
नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः॥
एवं सञ्चिन्त्य मनसा प्रेत्यकर्मफलोदयम्।
मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत्॥
अज्ञानाद् यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम्।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत्॥

मनु० अ० ११

इसका अर्थ यह है कि जिस किसी से कोई पाप हो जावे, वह अपने उस पाप को दूसरों पर प्रकट करे, पश्चात्ताप करे तप करे, वेद शास्त्र का अध्ययन करे, तो उसका पाप छूट जायगा;

और यदि इन बातों मे से कोई भी न कर सके, तो दान करके भी वह पाप से छूट सकता है। अपने किये हुए अधर्म को ज्यो ज्यों मनुष्य दूसरों से कहता है, त्यों त्यों वह उस अधर्म से छूटता जाता है। जैसे सांप केचुली से। ज्यों-ज्यों उसका मन अपने किये हुए दुष्कार्यों की निन्दा करता है, त्यों-त्यों उसका शरीर उस अधर्म से छूटता है। मनुष्य जो पाप करता है, उस पर ज्यो-ज्यों वह अपने मन मे अपने ही ऊपर क्रोध करता है, अथवा मन ही मन अपने उस पाप पर दुखी होता है, त्यों-त्यों वह उस पाप से बचता है, और फिर जब यह प्रतिज्ञा करता है कि "अब ऐसा पाप न करूँगा" तब वह इस पापनिवृत्ति के कारण शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य को चाहिए कि वह बार बार अपने मन मे सोचता रहे कि मैं इस जन्म मे जो कर्म करूँगा उसका फल मुझे अगले जन्म मे भी मिलेगा, और यह सोचकर वह मन, वाणी और शरीर से सदैव शुभ कर्म करता रहे। पापों से अपने आपको बचाये रखे। सच तो यह है कि अज्ञान अथवा ज्ञान से जो कोई निन्दित काम मनुष्य से हो जावे, और वह उस पापकर्म से छूटना चाहे तो फिर दुबारा उसको न करे

यही भगवान् मनु के उपर्युक्त श्लोकों का अर्थ है। आज कल हिन्दू धर्म के लिये कोई राजनियम अथवा समाज नियम न होने के कारण प्रायश्चित्तों का प्राय· लोप हो गया है। चोरी, जुआ, मिथ्याभाषण, व्यभिचार, मद्यपान, हत्या इत्यादि पापों का तो साम्राज्य है। इन पापों को करते कराते हुये आज न तो कोई प्रायश्चित्त कराता है, और न समाज ही इनके लिये कोई प्रायश्चित्त कराता है। ये मनुजी के गिनाये हुये पातक हैं, परन्तु इनका आज कोई प्रायश्चित्त नहीं है। इसी से यह धर्मक्षेत्र भारतवर्ष आज अधर्म का क्रीड़ाक्षेत्र बना हुआ है। हा, जो पातक

संसर्गजन्य हैं, उनको आजकल बहुत महत्व दिया जा रहा है जैसे कोई सज्जन यदि विदेश यात्रा करे तो उसका यह कार्य प्रायश्चित्त के योग्य समझा जाता है। अन्य कुछ पातक हिन्दू समाज ने इस प्रकार के भी मान रखे है, जिनका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं मानता। फिर चाहे वह विधर्मियो के छल के कारण, बलात्कार के कारण अथवा भूखों मरने के कारण ही विधर्म मे क्यों न गया हो, हिन्दू समाज मे उसके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है। इसी कारण से इस पवित्र भारतवर्ष मे गौभक्षियों की संख्या करोड़ों तक पहुँच गई है। जो लोग हिन्दूधर्म मे रहकर गौरक्षक थे आज अपने समाज की कमजोरी के कारण करोड़ों की संख्या मे गौभक्षक हो रहे हैं। क्या यह हमारे धर्म की कमजोरी है, अथवा समाज की निर्बलता है ? हम तो यही कहेंगे कि यह हमारे हिन्दू धर्म की कमजोरी नहीं है। हिन्दूधर्म एक बहुत ही व्यापक धर्म है, उसमे प्रायश्चित्त की विधि पापों के क्षालन के लिये ही रखी गई है। ऐसा कोई बड़ा से बड़ा पाप भी नहीं है कि, जो हिन्दू धर्म की अग्नि तुल्य पवित्रता मे भस्म न हो जाये, श्रीमद्भागवत पुराण मे लिखा है :—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कशाः ।
आभीरकंका यवनाः खशादयः ॥
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः ।
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

श्रीमद्भागवत

जिस ईश्वरीय धर्म का आश्रय करने से किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आवीर कंक, यवन, खश इत्यादि अनार्य और पापी लोग शुद्ध होते हैं, उस परम पवित्र धर्म को नमस्कार है। और सच तो यह है कि इस प्रकार की अनार्य जातियाँ भी आर्यो

से ही उत्पन्न हुई है। ये जातियाँ अनार्य किस प्रकार बन गई, इसका कारण मनु भगवान् इस प्रकार बतलाते हैं :—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्व गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चोड्द्रविड़ाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदापह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥

मनु० अ० १०

ये जातियाँ पहले क्षत्रिय थी। जब इनके आर्य कर्म-धर्म लोप हो गए, भारतवर्ष के बाहर इधर-उधर के देशों मे चले गये, और वहाँ इनको याजन, अध्यापन और प्रायश्चित्तादि के लिए विद्वान तपस्वी ब्राह्मण न मिलने लगे तब धीरे-धीरे अनार्य हो गई। वे-जातियाँ कौन सी हैं? उनमे से मनु ने निम्नलिखित जातियाँ गिनाई हैं—पौण्ड्रक, औड़, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, अपह्लव, चीन, किरात, दरद और खश।

जब भारतवर्ष को छोड़कर, अथवा भारतवर्ष मे ही, इन जातियों ने अपने कर्म धर्म को छोड़ दिये, और ब्राह्मणों के दर्शन इनको न होने लगे, ब्राह्मण लोगों ने भी इनको छोड दिया, अथवा इनसे घृणा करने लगे, तब ये बेचारे वृषलत्व को प्राप्त हो गए। ब्राह्मणों के अदर्शन के कारण जब इनकी यह दुर्गति हुई है तब क्या ब्राह्मणों के दर्शन से फिर इनकी सद्गति नहीं हो सकती?

म्लेच्छ अथवा मुसलमानों की तरह अन्य जो मलीन जातियाँ हैं, उनकी उत्पत्ति तो हमारे पुराण-ग्रन्थों मे बड़ी विचित्र रीति से बतलाई गई है। मत्स्यपुराण मे लिखा है :—

ममन्थुर्ब्राह्मणास्तस्य बलाद्देहमकल्मषाः।
तत्कायात् मथ्यमानात्तु निपेतुर्म्लेच्छजातयः ॥

शरीरे मातुरंशेन कृष्णाजनसमप्रभाः।

मत्स्यपुराण, अ० १०

उस राजा वेन के शरीर का पवित्र ब्राह्मणो ने मन्थन किया, और उस मन्थन के कारण, माता के अंश से, उस राजा के शरीर से, ये म्लेच्छ जातियाँ उत्पन्न हुईं। काले अञ्जन के समान चमकीला इनका वर्ण था।

श्रीमद्भागवत के चौथे स्कन्ध मे भी म्लेच्छ जातियों की उत्पत्ति इसी प्रकार से बतलाई है। इससे मालूम होता है कि आर्य क्षत्रिय राजाओं से ही इनकी उत्पत्ति है। आज तो इन जातियो ने और भी उन्नति कर ली है। इनके रंग ढंग, चाल ढाल मे बहुत कुछ सभ्यता दिखाई देती है। खास कर भारतीय मुसलमानो का रक्त-सम्बन्ध सैकड़ो वर्ष से भारत के आर्यों से है, और इनमे बहुत कुछ आर्यत्व है। भारतीय ईसाई जातियाँ तो अभी बहुत थोड़े दिन से आर्यच्युत हुई है। अतएव उनमे कुछ और भी विशेष सभ्यता दिखाई देती है। यदि भारतवर्ष के तपस्वी विद्वान् ब्राह्मण लोग इन लोगों को बार बार अपने दर्शन दिया करे इनसे घृणा न करे, इनमे हिलहिल कर अथवा जिस तरह से हो सके, इनको आर्य या हिन्दू-धर्म मे फिर ले आवे, तो यह कुछ अनुचित न होगा। जो अपना अंग है, उसको अपने अंग मे लेने से संकोच क्यों करना चाहिये?

यह हमारा अंग जो हमसे अलग हो गया है, हमारी लापरवाही के कारण हुआ है। हमने इनको घृणित समझा, इनको दूर दूर किया—ये हमसे इतनी दूर हो गये कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं। अब यदि हम फिर इनको गले से लगाने को तैयार हों, तो ये फिर हमारा प्रेम पाकर हमसे मिल सकते है। आठ नौ करोड़ ईसाई मुसलमान मे से अधिकांश लोग ऐसे ही हैं कि जिनसे हमने घृणा की; और वे हमसे अलग हो गए। कुछ

दुष्काल आदि से भूखों मरने के कारण हम से अलग हुये। हमने उनके टुकडे का बन्दोबस्त नहीं किया। अपने ही इन्द्रियराम में मस्त रहे। कुछ बलात्कार अथवा बहकाने में आकर, अज्ञानता के कारण, हमसे अलग हुए, क्योंकि हमने उनकी रक्षा नहीं की। उनको लापरवाही से छोड दिया यदि अब हम फिर अपनी उपर्युक्त लापरवाहियों को सुधार लें, और जो आठ नौ करोड हमसे अलग हो गये हैं, उनसे घृणा छोड़कर प्रेम सम्बन्ध स्थापित करें, तो यह कुल्हाडी का दण्डा, जो अपने गोत का पहला ही काल हो रहा है, अपने गोत की रक्षा करने लगेगा।

इतनी उदारता हमारे धर्म में है परन्तु आवश्यकता यह है कि हम उदार बनें। हम ऊपर श्रीमद्भागवत का प्रमाण देकर लिख चुके हैं कि हमारे धर्म में वह शक्ति है, वह उदारता है कि वह बडे-बड़े पतितों को पावन कर सकता है। और आज के पहले हजारों वर्ष का हमारा इतिहास भी साक्षी देता है कि आर्यों के अतिरिक्त अन्य आर्येतर म्लेच्छ इत्यादि जातियों को हमने प्रायश्चित्त से शुद्ध किया है। सबसे पहले अत्यन्त प्राचीन तन्त्र ग्रन्थों का प्रमाण लीजिये। तांत्रिक लोग बडे कट्टर हिन्दू थे। "महानिर्वाणतन्त्र" में लिखा है :—

> अहो पुण्यतमः कौलाः तीर्थरूपाःस्वय प्रिये।
> ये पुनन्त्यात्मसम्बन्धान् म्लेच्छश्वपचपामरान्॥
>
> महानिर्वाणतन्त्र

अहो! ये तांत्रिक लोग कितने पवित्र और पुण्यशील हैं कि जो म्लेछ, श्वपच, इत्यादि परम पापी लोगों को भी अपने में मिलाकर शुद्ध कर लेते हैं। इसके बाद तान्त्रिक सम्प्रदाय की पवित्रता प्रकट करते हुये कहा गया है :—

गंगायां पतिताम्भांसि यान्ति गांगेयतां यथा ।
कुलाचारे विशन्तोऽपि सर्वे गच्छन्ति कौलताम् ॥

महानिर्वाणतंत्र

जिस प्रकार गंगा मे मिला हुआ जल, चाहे जैसा अपवित्र हो वह पवित्र गंगाजल हो जाता है, उसी प्रकार चाहे जैसे अपवित्र धर्म वाला मनुष्य हो, तान्त्रिक लोगों मे मिलकर तांत्रिक ही हो जाता है।

यह तो तांत्रिक लोगों का उदाहरण हुआ। इनके सिवाय हिन्दू धर्म के प्रबल रक्षक छत्रपति शिवाजी महाराज और गुरु नानक इत्यादि के समय मे भी विधर्मिक को प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि करने की प्रथा थी। प्रायश्चित्त भी समय समय के अनुसार ऋषियों ने बतलाये है। महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति मे कहते है:—

दाने विवाहे यज्ञे च संग्रामे देशविप्लवे ।
आपद्यपि च कष्टया सद्यःशौच विधीयते ॥

याज्ञवल्क्यस्मृति अ० ३

अर्थात् दान मे, विवाह मे, यज्ञ मे, संग्राम मे, देशविप्लव में, कष्टदायक आपत्ति के समय सद्यःशौच का विधान है। जैसे आज कल का समय है हमारे देश के विप्लव का समय है, और हमारी जाति पर एक प्रकार से बड़ी भारी आपत्ति आई हुई है। इस समय शुद्धि के लिये भी हमको कठोर प्रायश्चित्तों के व्यवहार करने की आवश्यकता नहीं है। इस समय तो हमको यही देखना चाहिये कि हमारे धर्म की कोई स्त्री अथवा पुरुष, किसी भी कारण विशेष से, पर धर्म मे चला गया है, तो उसका वहाँ से छुटकारा करके उसको 'सद्यःशौच' का प्रायश्चित्त करा कर, तुरन्त उसको शुद्ध कर लेना चाहिये। हाँ, महर्षि मनु के कथना-

नुसार उसको अपने कार्य पर पश्चात्ताप अवश्य होना चाहिये कि हमने अपना धर्म छोड़कर बहुत बुरा कार्य किया; और परमात्मा अब हम से ऐसा कभी न करावे। परन्तु यह पश्चात्ताप का प्रायश्चित्त भी उन लोगों के लिए है कि जो जान-बूझकर स्वधर्म का त्याग करते है, परन्तु जो अज्ञान से अथवा बलात्कार से स्वधर्म छोड़ने के लिए बाध्य किये जाते हैं, वे तो अत्यन्त दया के पात्र हैं। उनकी शुद्धि करने के लिए प्रायश्चित्त की भी आवश्यकता नही है, क्योंकि उनका मन स्वधर्म के विषय मे कभी अशुद्ध नही हुआ था। बालकों और स्त्रियों के उदाहरण इसी प्रकार के है। स्त्रियों को तो मनु महाराज ने सर्वथा शुद्ध माना है, और नीच कुल से भी शीलवती स्त्री को धर्म-पूर्वक ग्रहण करने की आज्ञा दी है :—

श्रद्दधानः शुभा, विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि पर धर्म स्त्रीरत्न दुष्कुलादपि ॥
विषादप्यमृत ग्राह्य बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काचनम् ॥
स्त्रियो रत्नामन्यथो विद्या धर्मः शौच सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥

मनु० अ० २

अर्थात् उत्तम विद्या नीच के पास हो, तो भी उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लेना चाहिए। उत्तम धर्म शूद्र से भी श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिये, और स्त्री रत्न चाहे बुरे कुल मे भी हो, तो भी उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। विष से भी अमृत ले लेना चाहिए। बालक के भी शिक्षादायक वचन ग्राह्य है। अच्छा चालचलन यदि शत्रु मे भी हो तो उसे लेना चाहिये, सुवर्ण नापाक जगह से भी उठा लेना चाहिये। इसी प्रकार स्त्री, रत्न,

विद्या, धर्म, पवित्रता, अच्छे वचन, और अनेक प्रकार की शिल्प विद्या सब जगह से, जहाँ मिले वहीं से ले लेना चाहिए।

मनु महाराज के इन वचनों से स्पष्ट है कि स्त्री, चाहे जितने नीच कुल में हो परन्तु यदि वह स्वैरिणी व्यभिचारिणी नहीं है तो उसे अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिये। परन्तु उसे धर्म पूर्वक ग्रहण करना चाहिए। अधर्म से नहीं। धर्मपूर्वक विधर्मी स्त्री को भी ग्रहण करके हम पवित्र आचरण के संसर्ग से उसे धर्मात्मा बना सकते है। तप और सदाचार में बहुत बड़ी शक्ति है। महर्षि पराशर ने राजा जनक से कहा है :—

राजन्नैतद् भवेद् ग्राह्यमपकृष्टेन जन्मना।
महात्मना समुत्पत्तिः तपसा भावितात्मनाम् ॥

महाभारत, शान्तिपर्व अ० २९६

अर्थात् हे राजन् नीच कुल मे जन्म पाने पर भी तप से भी उच्चत्व प्राप्त हो सकता है। कई लोग कहेगे कि यह सतयुग की बात है। आजकल ऐसा नही हो सकता। परन्तु ऐसी बात नहीं है, तप और वीर्य का प्रभाव सदा-सर्वदा वैसा ही रहता है। महर्षि मनु कहते है :—

तपोवीज प्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे।
उत्कर्ष चापकर्ष च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥

मनु० अ० १०। ४२

अर्थात् तप प्रभाव से और बीज प्रभाव से प्रत्येक युग मे मनुष्य जन्म की उच्चता और नीचता को प्राप्त होते है।

सारांश यह है कि जिस प्रकार से तपस्वी विद्वान ब्राह्मण अपने संसर्ग से नीच कुल की विधर्मी स्त्री को भी पवित्र कर सकता है, उसी प्रकार वह अपने वीर्य से उसके द्वारा उत्तम उच्च

कुल की सन्तति भी उत्पन्न कर सकता है। इस विषय मे मनु जी ने एक जगह और भी कहा है :—

जातो नार्यामनार्याया मार्यादार्यो भवेद्गुणैः ।

मनु०, अ० १०।

अर्थात् अनार्या स्त्री मे आर्य पुरुष से उत्पन्न हुआ पुत्र गुणों से आर्य ही होगा। वीर्य प्रधान ही रहता है। ऐसी दशा मे आर्य (हिन्दू) लोगों को अनार्य (आर्येतर) जाति की स्त्रियों को ग्रहण करने मे अब कोई लज्जा या संकोच न करना चाहिए। हम लोगों को मनु इत्यादि अपने शास्त्रकारो की आज्ञा के अनु· कूल आचरण करना चाहिए।

इसी प्रकार विधर्मी बालको को भी हम ग्रहण करके अपने धर्म मे मिला सकते है। जो दूसरे धर्म के बालक है अथवा अपने धर्म से अभी हाल मे पतित होकर व्रात्य हो गये है, उनको हम फिर व्यवहार्य बना सकते हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र का वचन है :—

तेषा सस्कारेप्सवो व्रात्यास्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन् । व्यवहार्यो भवतीति वचनात् ॥ ४३ ॥

पारस्कर गृह्यसूत्रम् २।५

जो बालक पतित हो गये हैं, उनको व्रात्यस्तोमयज्ञ करा कर हम अध्ययन इत्यादि मे लगाकर व्यवहार्य बना सकते हैं। परतु इस समय तो देश के ऊपर महाभयङ्कर अनिष्ट आया हुआ है इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य की व्यवस्था के अनुसार सिर्फ "सद्यःशौच" ही एक बड़ा भारी साधन है । यज्ञ इत्यादि की झझट इस समय नही हो सकती। याज्ञवल्क्य स्मृति मे शुद्धि के साधन और भी एक जगह लिखे हुए है। इनके अनुसार आच- रण करना चाहिए :—

कालेऽग्निः कर्मभृद् वायुः मानो ज्ञान तपो जलम् ।
पश्चात्तपो निराहारः सर्वेऽमी शुद्धिहेतवः ॥

याज्ञवल्क्यस्मृति, अ० ३

अर्थात् काल, अग्नि, कर्म, मिट्टी, वायु, मन, ज्ञान, तप, जल, पश्चात्ताप, निराहार, ये सब शुद्धि के साधन है ।

मतलव यह है कि जिसकी शुद्धि करनी हो, उसको उसकी शक्ति के अनुसार निराहार व्रत करवा सकते है, पश्चात्ताप उसको स्वय ही होगा, और यदि उसको पूर्ण पश्चात्ताप है, तो फिर मनुजी के अनुसार उसको दूसरे साधन की आवश्यकता ही नही। जल गंगाजल इत्यादि छिड़ककर अथवा नहलाकर शुद्ध कर सकते हैं। शक्ति-अनुसार तप का विधान कर सकते हैं। विद्याभ्यास इत्यादि कराकर उसको ज्ञान् दे सकते है । मन पश्चात्ताप से स्वयं ही शुद्ध होगा । शुद्ध पवित्र तीर्थस्थान की वायु, मिट्टी, वालुका इत्यादि का देश-काल के अनुसार उपयोग कर सकते है । अभ्यास के द्वारा उसके कर्म या आचरण बदल सकते हैं। अग्नि-पूजा, हवन इत्यादि उससे करा सकते है। काल, समयानुसार वह स्वयं शुद्ध हो सकता है, चाहे और कोई साधन न किये जायँ, इत्यादि । साराश यही है कि शुद्धि के लिए देशकालानुसार प्रायश्चित्त कराना ऋषियों की सम्मति है ।

यह प्रायश्चित्त और शुद्धि का वर्णन किया गया । सब को विवेकपूर्वक इस पर आचरण करना चाहिए ।

———

अहिंसा तथा गोरक्षा

मन, वचन, कर्म से किसी निरपराध प्राणी को कष्ट देना हिंसा कहलाता है, और इसके विपरीत कर्म को अहिंसा समझना चाहिए :—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्चदानं च सतां धर्मः सनातनः॥

महाभारत, वनपर्व

मन, वचन, कर्म से सब प्राणियों के साथ अद्रोह अर्थात् मैत्री रखना, उन पर दया करना और उनको सब प्रकार सुख देना—यही सज्जनों का सनातन धर्म है। इसी को "परम-धर्म अहिंसा" कहना चाहिए।

जो मनुष्य दूसरों को वाणी से कष्ट पहुँचाते हैं, अर्थात् किसी की निन्दा, चुगली करते है, अथवा कठोर वचन बोलते हैं वे मानो वाणी से हिंसा का आचरण करते हैं। जो मन से किसी का अकल्याण चाहते हैं, मत्सर करते हैं, वे मन से हिंसा करते हैं, और जो हाथ से किसी को मारते हैं अथवा वध करते हैं वे कर्म से हिंसा करते हैं। यह तीनों प्रकार की हिंसा त्याज्य है। हिंसा से मनुष्य मे क्रूरता आती है, उसके मन के सद्भाव नष्ट होते हैं, पाप बढ़ता है, और उसको इस लोक तथा पर-लोक मे शान्ति नहीं मिलती। इसके विरुद्ध जो सब पर दया रखता है, किसी को कष्ट नहीं देता, वह स्वयं भी सुखी रहता है :—

अधृष्य सर्वभूतानामायुष्मान्नीरुजः सुखी।
भवत्यभक्षयन्मांस दयावान् प्राणिनामिह ॥

महाभारत, अनुशासनपर्व

जो सब प्राणियो पर दया करता है; और मांसभक्षण कभी नही करता, वह किसी प्राणी से स्वयं भी नहीं डरता। दीर्घायु होता है, आरोग्य होता है, और सुखी होता है। भगवान मनु तो यहाँ तक कहते हैं किः—

यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिना न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हित प्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते।
यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन॥

मनु० अ० ५

जो मनुष्य किसी भी प्राणी को, बन्धन या वध इत्यादि किसी प्रकार से भी, क्लेश देना नही चाहता, वह सब का हित-चिन्तक मनुष्य अनन्त सुख को प्राप्त होता है। ऐसा मनुष्य जो कुछ सोचता है, जो कुछ करता है, और जिस कार्य मे धैर्य से लग जाता है, सब मे उसको अनायास ही सफलता होती है, क्योंकि वह किसी प्राणी को भी कभी किसी प्रकार कष्ट देने की इच्छा ही नहीं करता, तब फिर उसको कष्ट क्यो होगा? सब प्राणियो पर वह प्रेम करता है, सब प्राणी उस पर प्रेम करते है, और सब प्राणियों का स्वामी परमात्मा भी उस पर प्रसन्न रहता है। ऐसी दशा मे उसको सिद्धि धरी धराई है। वह सब जीव परमात्मा के ही समझता है, अपने सुख के लिए किसी पर भेद-भाव नहीं रखता, और न किसी को निर्दयता से मारता है। किसी कवि ने कहा है :—

दया कौन पर कीजिये, का पर निर्दय होय।
साईं के सब जीव हैं, कीरी कुञ्जर दोय॥

किस पर दया करे, और किस पर निर्दय हों, सब जीव परमात्मा के है—चाहे चीटी हो, और चाहे हाथी। जब ऐसी दशा है, तब अपने उदर की पूर्ति के लिये—मांस भक्षण के लिये जीवों की हत्या करना कितना बडा पाप है। ऐसे मनुष्यो को सुख कभी नहीं मिल सकता :—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
सजीवश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥

मनु० अ० ५

जो अहिंसक अर्थात् निरपराध प्राणियों को अपने सुख के लिये कष्ट देता, अथवा उनका वध करता है, वह न इस जन्म मे जीवित रहते हुये और न मरने पर ही, सुख को पा सकता है।

कई मांसभक्षी लोग कहते है कि हम स्वयं नहीं मारते हैं—हम तो सिर्फ दूसरे का मारा हुआ मांस खाते हैं, हमको कोई दोष नही लग सकता, परन्तु ऐसे लोगो को विचार करना चाहिए कि यदि वे लोग मास खाना छोड दे तो जीवों के मारने की कोई आवश्यकता ही न रहे। वास्तव मे मारने वाले से खाने वाले को ही अधिक पाप लगता है। मनु महाराज ने आठ घातक माने हैं :—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
सस्कर्त्ता चापहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥

मनु० अ० ५

१. जिसकी सम्मति से मारते है, २ जो अंगों को काट कर अलग अलग करता है, ३ जो मारता है ४ जो खरीदता है, ५ जो बेचता है, ६. जो पकाता है, ७ जो परोसता है। और ८. जो खाता है—ये आठों घातक है। इन सब को हत्या का पाप लगता है।

सब से अधिक खाने वाले को लगता है, क्योंकि उसी के कारण ये सब क्रियाये होती है।

मांसभक्षण मे दोष क्यो है? क्योंकि इससे दया की हानि है। जिस प्राणी का मांस हम खाते हैं, उसको कष्ट देकर हम अपने उदर की पूर्ति कर रहे है। जब हमारे उदर की पूर्ति किसी जीव की हत्या किये विना ही, अन्य पदार्थों से हो सकती है, तब किसी को मारने की क्या आवश्यकता, क्योंकि जीव को मरते समय जो कष्ट होता है, वैसा कष्ट और कभी नही होता। अपना जीव सब को प्यारा होता है। जैसे अपना जीव समझना चाहिए वैसा ही दूसरे का भी समझना चाहिए, क्योंकि प्राण-धारण मे सुख और प्राण त्याग के समय दुःख सब जीवो को बराबर ही होता है। जो लोग दूसरे का गला काट कर अथवा कटवा कर मास खाते हैं वे कभी नही चाहेगे कि कोई उनका गला काट कर अथवा कटवा कर खा जाय। जैसा अपना सुख दुःख वैसा ही अन्य प्राणियो का भी सुख दुःख समझना चाहिएः—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन मन्तव्य बुद्धिमद्भिः कृतात्मभिः॥

महाभारत, अनुशासन पर्व

जिस प्रकार हमको अपने प्राण प्यारे हैं, वैसे ही अन्य प्राणियों को अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिए बुद्धिमान और विचारशील मनुष्यों को अपने ही समान सब को समझना चाहिए :—

सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते, सर्वाणि दुःखेचभृश त्रसन्ते।
तेषा भयोत्पादनजातखेदः कुर्यान्न हि श्रद्धानः॥

सभी प्राणी सुख से सुखी और दुःखजन्य भय से कष्टित होते

हैं, इसलिए ऐसा कोई कार्य न करना चाहिए कि जिससे प्राणियो को भय जन्य दुख हो। साराश यह है कि मांस भक्षण से प्राणियों को कष्ट होता है, और कष्ट किसी के लिए भी अभीष्ट नही है। इसीलिए मांस भक्षण दोष है :—

समुत्पत्ति च मासस्य वधबन्धौ चा देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्त्तेत सर्वमासस्य भक्षणात् ॥

मनु० अ० ५

प्राणियो के बध और बन्ध से मांस की उत्पत्ति देखकर— अर्थात् उन पर दया करके—सब प्रकार के मांस भक्षण से बचना चाहिए। पुनश्च :—

न हि मास तृणात्काष्ठादुपलाद्वाऽपि जायते।
हत्वा जन्तु ततो मास तस्माद्दोषस्तु भक्षणे ॥

मांस, तृण, काठ अथवा पत्थर से उत्पन्न नही होता, जीवों के मारने से मिलता है, और इसीलिये इसके भक्षण मे दोष है।

कई लोग यज्ञ के नाम पर अथवा देवी देवताओं के नाम पर निरपराध पशुओं का बलिदान करके मांस का सेवन करते है, और इसको धर्म समझते हैं। यह और भी बड़ा भारी पाप है अर्थात् मांस भक्षण के दोष को छिपाने के लिए ये लोग ऊपर से धर्म का आवरण चढ़ाते हैं। ऐसे पापियों के लिए कूर्मपुराण मे कहा है :—

प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढ़मानसः।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥

कूर्मपुराण।

अर्थात् जो मूढ़ मनुष्य प्राणियों का वध करके धर्म की इच्छा करते हैं, मानो काले सर्प के मुख कोटर से अमृत की वर्षा चाहते

हैं। अरे जहाँ जहर है, वहाँ से अमृत कैसे मिल सकता है? जिसको सब शास्त्रों ने अधर्म माना है, वहाँ से धर्म कैसे प्राप्त हो सकता है। चाहे कोई भी धर्म हो, अहिंसा को सभी जगह धर्म शास्त्रकारो ने प्रतिष्ठित किया :—

सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
कामकाराद्विहिंसन्ति यज्ञवेद्या पशुन्नराः ॥

महाभारत, मोक्षपर्व ।

धर्मात्मा मनु ने सब धर्म कर्मो मे अहिंसा ही की स्थापना की है, परन्तु लोग अपनी इच्छा से शास्त्रविरुद्ध, यज्ञ की वेदी (अथवा देवी देवताओं) पर पशुओ की हिंसा करते है।

इससे सिद्ध है कि निरपराध और अहिंसक प्राणियों की हिंसा करना सब प्रकार से निन्दित कर्म है। यह अहिंसा का एक अंग हुआ। इसके अतिरिक्त अहिंसा का एक दूसरा अंग भी है :—

केवल हिंसा से निवृत रहने से ही अहिंसा पूरी नहीं होती बल्कि यदि कोई हिंसा करता हो, किसी दूसरे प्राणी को यदि किसी प्रकार से भी सताता हो, अथवा उसका वध करता हो, तो उस पीडित प्राणी पर दया करना और उसको उस अत्याचार से बचाना - यह अहिंसा का दूसरा अंग है। इसका नाम है— अभय दान। अभयदान वही दे सकता है जो स्वयं निर्भय हो, और दूसरे का दुख देखकर जिसके दिल मे दया का स्रोत उमड आता हो—यही पूर्ण साधु का लक्षण है। चाणक्य मुनि ने कहा है :—

यस्य चित्त द्रवीभूत कृपया सर्वजन्तुषु ।
तस्य ज्ञानेन मोक्षेण किं जटाभस्मलेपनैः ॥

चाणक्यनीति

पीड़ित प्राणियो की पीड़ा देखकर दया से जिसका दिल द्रवीभूत हो जाता है उसको ज्ञान से, मोक्ष से, जटा बढ़ाने से और भस्म लेपन इत्यादि से क्या काम ? वह तो स्वयंसिद्ध साधु है। किसी कवि ने इसी प्रकार के अहिंसाव्रती सत्यपुरुष की प्रशसा करते हुए लिखा है —

प्राणाना परिरक्षणाय सतत सर्वाः क्रियाः प्राणिनाम् ।
प्राणेभ्योऽप्यधिक समस्तजगता नास्त्येव किंचित्प्रियम् ॥
पुण्य तस्य न शक्यते गणयितु य. पूर्णकारुण्यवान् ।
प्राणानमभय ददाति सुकृती येषामहिंसाव्रतः ॥

ससार मे सब प्राणियो के दिन रात, जितने कार्य होते हैं, सब प्राणों को रक्षा के लिए ही होते हैं। प्राणो से अधिक ससार मे और कोई भी चीज प्यारी नही है। ऐसी दशा मे जिसके हृदय मे पूर्ण दया बसती है और जो सज्जन पुरुष, सदैव अहिंसा व्रत का धारण करते हुए, दूसरे प्राणियो को प्राणो का अभयदान किया करते है, वही बड़े भारी पुण्यात्मा है—ऐसे सत्पुरुषों के पुण्य की गणना नहीं की जा सकती।

अहिंसा क ये दोनों अग तो सब मनुष्यों के लिये सर्वसाधारण है, पर क्षत्रियों के लिए एक प्रकार की और हिंसा भी बतलाई गई है, और उस हिंसा का पातक उनको नहीं लगता है। प्रजा की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है। इसलिए यदि कोई हिंसक प्राणी, सिंह- व्याघ्रादि जंगल से आकर बस्ती मे उपद्रव करते हो, अथवा जंगल मे ही प्रजा को सताते हों तो उनको हिंसा करना वेदविहित है। अथवा कोई आततायी मनुष्य प्रजा को पीड़ित करते हों, तो उनका भी तत्काल बध करना चाहिये। आततायी मनुष्य कौन है, इस विषय मे मनु महाराज कहते हैं :—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥

मनु०, अ० ५

जो मनुष्य आग लगा कर दूसरे का घर द्वार अथवा खेत खलियान फूँक देता है, किसी को जहर देदेता है, हथियार लेकर किसी को मारने दौड़ता है, चोरी-डकैती इत्यादि के द्वारा किसी का धन अपहरण करता है, किसी का खेत छीन लेता है, अथवा तीर्थक्षेत्रों और मन्दिर आदि धर्म क्षेत्र को नष्ट-भ्रष्ट करता है, दूसरे की स्त्री का हरण करता है, ये छै भारी दुष्ट आततायी कहलाते है । इनका, अथवा इसी प्रकार के अन्य हिंसापूर्ण कर्म करने वाले लोगो का, तत्काल बिना सोचे-विचारे बध करना चाहिए :—

आततायिनमायान्त हन्यादेवाविचारयन् ।

मनु०, अ० ८ श्लो० ३५०

नाततायिवधे दोषो०

मनु०, अ० ८, श्लो० ३५१

इनको मारने मे पाप नही है, क्योंकि वे स्वयं क्रोध मे आकर प्रजा की हिंसा करना चाहते है । बहुतों की हिंसा बचाने के लिए यदि एक की हिसा करनी पड़े तो यह वेदविहित हिंसा है, और इसी को "वैदिकी हिंसा" कहते है—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति—अर्थात् वेदविहित हिंसा हिंसा नहीं है—वह अहिंसा ही :—

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिश्चराचरे ।
अहिंसामेव ता विद्याद्वे दाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥

मनु०, अ० ८

अर्थात् इस जगत् मे जो वेदविहित हिंसा चराचर मे नियत

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥

मनु०, अ० ५

जो मनुष्य आग लगा कर दूसरे का घर द्वार अथवा खेत खलियान फूँक देता है, किसी को जहर देदेता है, हथियार लेकर किसी को मारने दौड़ता है, चोरी-डकैती इत्यादि के द्वारा किसी का धन अपहरण करता है, किसी का खेत छीन लेता है, अथवा तीर्थक्षेत्रों और मन्दिर आदि धर्म क्षेत्र को नष्ट-भ्रष्ट करता है, दूसरे की स्त्री का हरण करता है, ये छै भारी दुष्ट आततायी कहलाते है। इनका, अथवा इसी प्रकार के अन्य हिंसापूर्ण कर्म करने वाले लोगो का, तत्काल बिना सोचे-विचारे वध करना चाहिए :—

आततायिनमायान्त हन्यादेवाविचारयन् ।

मनु०, अ० ८ श्लो० ३५०

नाततायिवधे दोषो०

मनु०, अ० ८, श्लो० ३५१

इनको मारने मे पाप नहीं है, क्योंकि वे स्वयं क्रोध मे आकर प्रजा की हिंसा करना चाहते हैं। बहुतों की हिंसा बचाने के लिए यदि एक की हिंसा करनी पड़े तो यह वेदविहित हिंसा है; और इसी को "वैदिकी हिंसा" कहते हैं—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति—अर्थात् वेदविहित हिंसा हिंसा नही है—वह अहिंसा ही :—

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिश्चराचरे ।
अहिंसामेव ता विद्याद्वे दाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥

मनु०, अ० ८

अर्थात् इस जगत् मे जो वेदविहित हिंसा चराचर मे नियतः

अपने देश और धर्म को रसातल जाने से बचा सकते है। इस लिए प्रत्येक हिन्दू को गौओं की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए।

गोरक्षा हम किन-किन साधनों से कर सकते है, यहाँ पर उनका वर्णन करने के लिए स्थान नहीं है। इस विषय पर देश में इस समय काफी चर्चा हो रही है। परन्तु यदि प्रत्येक हिन्दू पहले की भाँति गौ को बचाना पाप समझे, साँड़ो के छोड़ने की प्रणाली फिर से जारी की जाय, और उन साँड़ो की रक्षा का भी पूर्ण प्रबन्ध किया जाय, तथा गोवंश के चरने के लिए जमीदार और राजा लोग अपनी कुछ भूमि को छोड़ दिया करें, एवं गोपालक लोग गौओं के रोगों का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त कर के उनकी अरोग्यता बढाते रहे, तो भारत मे गौओ के वंश की वृद्धि फिर भी हो सकती है। प्राचीन काल मे हमारे देश के बडे-बड़े राजकुमार तक गोपालन-विद्या जानते थे। पांडवों ने जब राजा विराट के यहाँ अज्ञातवास स्वीकार किया था, तब धर्मराज युधिष्ठिर के सबसे छोटे भाई राजकुमार सहदेव ने, महाराज विराट के यहाँ जाकर, तन्तिपाल के नाम से अपने गुणों का परिचय इस प्रकार दिया था :—

क्षिप्रं च गावो बहुला भवन्ति न तासु रोगो भवतीह कश्चन्।
तैस्तैरुपायैर्विदित ममैतद् एतानि शिल्पानि मयि स्थितानि ॥

महाभारत विराटपर्व

गौओं की रक्षा और पालन के मुझे ऐसे-ऐसे उपाय मालूम हैं कि जिनसे बहुत जल्द गौओं की वृद्धि हो जाती है, और उनको किसी प्रकार के रोग नहीं होने पाते। फिर उन्होंने उत्तम साँडों के अपने परीक्षण-कौशल को बतलाते हुए कहा :—

ऋषभांश्चापि जानामि राजन् पूजितलक्षणान् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते ॥

महाभारत, विराटपर्व

इसके सिवाय हे राजन् साँड़ो की उत्तम-उत्तम जातियाँ भी हम ऐसी जानते हैं कि जिनका सिर्फ मूत्र मात्र ही सूँघकर बड़ी-बड़ी वन्ध्या गौएं भी बच्चा दे सकती है ।

कहाँ भारतवर्ष के राजकुमारो को भी गोपालन की इतनी शिक्षा दी जाती थी, और कहाँ आज हम गोपालन मे इतनी उदासीनता दिखला रहे हैं ! कुछ ठिकाना है ?

अब प्रत्येक हिन्दूधर्मानुयायी को गोपालन और गोरक्षण के लिए जागृत हो जाना चाहिए, और गौ को किसी दूसरे मनुष्य के हाथ बेचना, तथा अपात्र को गौ का दान देना पाप समझना चाहिए।

चौथा खण्ड

दिनचर्या

दिनचर्यां निशाचर्यां ऋतुचर्यां यथोदिताम् ।

आचरन्पुरुषः स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथा ॥

—भावप्रकाश

दिनचर्या

ब्राह्ममुहूर्त

रात को ठीक समय पर सोने और सवेरे ठीक समय पर उठने पर ही मनुष्य के जीवन की सारी सफलता है। संसार मे जितने भी महापुरुष, ऋषि-मुनि, पंडित, धनवान, धर्मात्मा और देश-भक्त हुये हैं, अथवा इस समय मौजूद हैं, वे सब प्रातःकाल स्वयं उठते रहे हैं, और उठते हैं तथा ऐसा ही उनका उपदेश भी है। मनुजी इस विषय मे लिखते हैं :—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशाश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥

मनु०

अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त मे उठकर धर्म और अर्थ का चिन्तन करे। शरीर मे यदि कोई कष्ट हो, तो उसके कारण को सोचे, और 'वेदतत्वार्थ' अर्थात् परमेश्वर का ध्यान करे।

'ब्राह्म मुहूर्त' चार घड़ी तड़के लगता है, जब कि पूर्व की ओर क्षितिज मे सूर्य की थोड़ी-थोड़ी लाल आभा दिखाई देती है, और दो-चार नक्षत्र भी आकाश मे दिखाई देते रहते हैं। यही उठने का ठीक समय है। इसको अमृतवेला भी कहते हैं। जो मनुष्य अपने जीवन मे इस वेला को साध लेता है, उसके अमर होने मे कोई सन्देह नही अर्थात् वह अपनी पूरी आयु भोग करके अपने सत्कार्यों से संसार मे अजरामर हो जाता है।

निद्रा का विश्राम लेकर जब प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त मे मनुष्य

उठता है, तब उसकी सब इन्द्रियाँ और बुद्धि स्वच्छ और ताजी हो जाती है। उस समय वह जो कार्य प्रारम्भ करता है, दिन भर उसमे सफलता ही होती है और प्रातः काल उठने वाले मनुष्य को समय भी खूब मिलता है। जो लोग सूर्य उदय होने तक सोते रहते है, उनकी बुद्धि और इन्द्रियाँ मन्द पड जाती हैं, शरीर मे आलस्य भर जाता है, उनका चेहरा फीका पड़ जाता है। तेज जाता रहता है, और चेहरे पर मुर्दनी सी छाई रहती है। दिन भर जो कुछ काम वे करते है, उसमें उनको उत्साह नही रहता, और न किसी कार्य मे सफलता ही होती है। अतएव सुबह देर से उठनेवाला मनुष्य सदैव दरिद्री रहता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है :—

कुचैलिन दन्तमलावधारिणम्।
बह्वाशिन नित्यकठोरभाषिणम्॥
सूर्योदये चास्तमये च शायिनम्।
विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्॥

अर्थात् जिनके शरीर और वस्त्र मैले रहते हैं, दाँतो पर मैल जमा रहता है, बहुत अधिक भोजन कर लेते है, और सदैव कठोर वचन बोलते रहते है तथा जो सूर्य के उदय और अस्त के समय सोते हैं, वे महा दरिद्री होते है—यहाँ तक कि चाहे 'चक्रपाणि'* अर्थात् बडे भारी सौभाग्यशाली लक्ष्मी-धर विष्णु ही क्यों न हों, परन्तु उनको भी लक्ष्मी छोड़ जाती है। इसलिये सूर्योदय तक सोते रहना बहुत हानिकारक है।

अस्तु, अब यह देखना चाहिये कि प्रातः काल खूब तड़के

---

*यहाँ 'चक्रपाणि' शब्द में कवि ने श्लेष रखा है। इसके दो अर्थ हैं। अर्थात् सामुद्रिक के अनुसार जिसके हाथ में दस चक्र होते हैं, वह राजा होता है, और दूसरा अर्थ, चक्र धारण करनेवाले विष्णु।

उठकर मनुष्य क्या करे। मनुजी ने उपर्युक्त श्लोक मे कहा है कि पहले धर्म का चिन्तन करे अर्थात् अपने मन मे परमात्मा का ध्यान करके यह निश्चय करे कि हमारे हाथ से दिन भर सब कार्य धर्मपूर्वक ही हो, कोई कार्य अधर्म अथवा अन्याय का न हो, जिससे हमको अथवा दूसरे किसी को दुःख हो। अर्थ के चिन्तन से यह मतलब है कि हम दिन भर उद्योग करके सच्चाई के साथ धन उत्पन्न करें, जिससे स्वयं सुखी रहे, और परोपकार कर सके। शरीर के कष्ट और उनके कारणो का चिन्तन इस लिये करे कि जिससे आरोग्य रहे, क्योंकि आरोग्यता ही सब धर्मों का मूल है। कहा भी है कि—

शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्।

फिर सब वेदों का सार जो ओंकार परमात्मा है, उसका ध्यान करे, क्योंकि वही सब मे रम रहा है, और सारा संसार उसमे रम रहा है। वही सब कर्मों के देखनेवाला और हमारा साक्षी है।

प्रायः प्राचीन लोगों मे यह चाल देखी जाती है कि प्रातः काल उठ कर परमात्मा का स्मरण करते हुये पहले अपनी हथेली का दर्शन करके उसको चूमते हैं और साथ ही यह श्लोक भी पढ़ते हैं:—

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
करमूले स्थितो ब्रह्मा प्रभाते करदर्शनम्॥

इसका भी तात्पर्य वही है, जो मनु महाराज ने बतलाया है। प्रातःकाल कर-दर्शन इसी लिये किया जाता है, जिससे दिन भर हमारे हाथ से शुभ कर्म हों। ऊपर के श्लोक मे हथेली में तीन देवताओं का वास बतलाया है। हथेली के आगे लक्ष्मी, जो द्रव्य की देवी है, हथेली के बीच मे सरस्वती, जो विद्या की

देवी है, और हथेली के पीछे ब्रह्मा, जो बलवीर्य और उत्पत्ति का देवता है। सारांश यही है कि सुबह उठकर मनुष्य को परमात्मा का चिन्तन करते हुए अपने दिन भर के उन कार्यों का विचार करना चाहिये कि जो हमारे चारो पुरुषार्थों—अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—से सम्बन्ध रखते है। इसका विचार करने के बाद तब चारपाई से कदम नीचे रखना चाहिये। जब हम चारपाई से नीचे पैर रखते हैं, तब धरती पर हमारा पैर पड़ता है। धरती हम सब की माता है। इसी ने हमको, माँ के पेट से नीचे गिरने पर, अपनी गोद मे लिया है। इसी पर हम खेले खाये और बड़े हुए हैं। यही हमको नाना प्रकार के फल-फूल, अन्न देकर हमारा पालन करती है, और अन्त मे—मृत्यु समय भी—हमे यही अपनी गोद मे विश्राम देती है। इसलिये हमारे बड़े-बूढ़े लोग सुबह जब चारपाई से पैर नीचे रखते हैं, तब यह श्लोक कहकर धरती माता को भी नमस्कार करते है, और पैर रखने के लिये क्षमा माँगते हैं :—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले !
विष्णुपत्नी नमस्तुभ्य पादस्पर्शं क्षमस्व मे ।।

अर्थात् हे देवी, समुद्र ही तुम्हारी साड़ी है, और पर्वत तुम्हारे स्तनमण्डल हैं, तुम विष्णु अर्थात् सब के पालन करनेवाले भगवान् की पत्नी हो अतएव हमारी माता हो, अब हम जो तुम्हारे शरीर मे अपना पैर छुआते हैं—क्या करे छुआना लाचारी है—इसके लिये माता, हमको क्षमा करो। कैसा सुन्दर भाव है !

इतना करने के बाद फिर हमको अपने नित्यकार्यों मे लग जाना चाहिये। शौच, दन्त-धावन, स्नान-संध्या, खुली हवा मे व्यायाम, इत्यादि सुबह के मुख्य कर्म हैं। यह सब कार्य स्वच्छ

और खुली हवा मे प्रातः काल करने चाहिये। प्रातः काल जो वायु चलती है वह शरीर और मन को प्रसन्न करके प्रफुल्लित कर देती है, और आरोग्यता को बढ़ाती है। यह वायु सूर्योदय के पहले दो घन्टे चलती है। सूर्योदय के बाद हवा दूसरी हो जाती है। इसी वायु के गुण का वर्णन करते हुये किसी हिन्दी कवि ने कहा है :—

प्रात समय की वायु को सेवन करत सुजान।
ताते मुख छबि बढति है बुद्धि होति बलवान॥

अतएव बालक से लेकर बूढ़े तक, स्त्री-पुरुष सबको, इस अमृत बेला का उचित रीति से साधन करना चाहिये।

स्नान

स्नान का सर्वोत्तम समय प्रात काल ही है। शौच मुख मार्जन के बाद स्नान करना चाहिये। कुछ लोगों का मत है कि व्यायाम के पहले स्नान करना चाहिये, जिससे शरीर के छिद्र खुल जावे, और व्यायाम करते समय पसीने द्वारा तथा वायु-संचार के द्वारा शरीर का मल भली भॉति निकल सके और कई लोगों का यह भी मत है कि व्यायाम के बाद स्नान करना चाहिये, जिससे शरीर से निकला हुआ मैल साफ हो जाय। दोनों मत ठीक हैं। जिसको जैसी सुविधा हो, वैसा करना चाहिये, परन्तु यह ध्यान मे रहे कि व्यायाम के बाद तुरन्त ही स्नान करना ठीक नहीं। कुछ देर विश्राम लेकर स्नान करना चाहिये।

स्नान सदैव शीतल जल से ही करना चाहिए। इससे शरीर स्वस्थ और चित्त प्रसन्न होता है। परन्तु शीत प्रदेशों मे यदि कुछ उष्ण जल से स्नान किया जाय, तो भी कोई हानि नही।

मतलब यह कि देश-काल के अनुसार व्यवहार करना उचित है। सरदी के मौसम में प्रायः एक ही बार स्नान किया जाता है, परन्तु यदि दो बार का अभ्यास किया जाय, तो भी लाभ ही होगा। ग्रीष्म और वर्षा में दो बार स्नान करना बहुत लाभ-दायक है।

स्नान के पहले तैलाभ्यङ्ग करने से भी स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। भाव प्रकाश में लिखा है कि स्नान के पहले शरीर में तैल इत्यादि मलने से वातादि दोष दूर होते है, थकावट मिटती है, बल बढ़ता है, नींद आती है। शरीर का रङ्ग खुलता है। आयु बढ़ती है। सिर पर तेल मलने से मस्तक के सब रोग दूर होते हैं, दृष्टि स्वच्छ रहती है। शरीर मे पुष्टि आती है। केश घने, काले, लम्बे, मुलायम होते हैं। कान मे तेल डालने से सब कर्ण-रोग दूर होते हैं। पैरों मे तैल मलने से पैरो की थकावट दूर होती है, फुन्सियाँ नही होती, और पैरो के तलुओ मे मलने से सब शरीर पर उसका असर होता है। आँखों को भी लाभ होता है।

स्नान समय के अभ्यंग से रोम-छिद्रो, नाड़ियों और नसों के द्वारा शरीर तृप्त और बलवान होता है। जैसे जल से वृक्ष का प्रत्येक अंग बढ़ता है, वैसे अभ्यंग से शरीर की सब धातुऐं बढ़ती हैं। परन्तु जिनको अजीर्ण हो, नवीन ज्वर आया हो, उल्टी हुई हो, या जुलाब हुआ हो उनको अभ्यंग मना है।

तैलाभ्यंग के बाद शीतल जल से स्नान करते हुये शरीर के सब अंगप्रत्यंगों को खूब मलना चाहिये, और पीछे से गाढ़े के अंगौछे से शरीर को खूब रगड़ कर पोछना चाहिये। स्नान से लाभ महर्षि वाग्भट्टजी ने इस प्रकार लिखे हैं :—

उद्वर्तन कफहर मेदस प्रविलापनम्।
स्थिरीकरणमगाना त्वक्प्रसादकर परम्॥

वाग्भ०

शरीर को रगड़ कर मैल निकालने से कफ और मेद का नाश होकर शरीर दृढ़ हो जाता है एवं शरीर की त्वचा मुलायम और सुन्दर हो जाती है।

दीपन वृष्यमायुष्य स्नानमूर्जोबलप्रदम्।
कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित्॥

स्नान से जठराग्नि की वृद्धि, शरीर की पुष्टि, बल की अधिकता, आयु की दीर्घता प्राप्त होती है। दाद, खाज, थकावट, मल, पसीना, आलस्य, दाह, तृषा इत्यादि दूर होते है।

हम ऊपर कह चुके है कि स्नान सदैव शीतल जल से ही करना चाहिये, परन्तु शीत-प्रधान देशों मे यदि उष्ण जल से स्नान किया जाय तो मस्तक के ऊपर उष्ण जल भूलकर भी न डालना चाहिये। इससे नेत्रों को और मस्तिष्क को अत्यन्त हानि पहुँचती है।

प्रातःकाल और सायंकाल स्नान के बाद एकान्त और शुद्ध स्थान पर बैठ कर पहले सन्ध्योपासन करना चाहिये। इसके बाद घर के अन्य कार्य तथा व्यवसाय नियमित रूप से करना चाहिये।

व्यायाम

भोजन को पचाने और शरीर को हृष्ट-पुष्ट रखने के लिये मनुष्य को व्यायाम की आवश्यकता है। व्यायाम से क्या लाभ होता है, इस विषय मे आयुर्वेद के आचार्य महर्षि वाग्भट्ट जी कहते हैं :—

लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः।
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते॥

अष्टांगहृदय

व्यायाम से फुर्ती आती है, कार्य करने की शक्ति बढ़ती है, पेट की आग बढ़ती है, चर्बी अर्थात् शरीर का बलगम नाश हो जाता है, शरीर के सब अंग-प्रत्यंग यथोचित रूप से सुदृढ़ मजबूत हो जाते है। जो लोग रबडी-मलाई पकवान इत्यादि गरिष्ट पदार्थ खाते है, और शारीरिक परिश्रम के कार्य करने का जिनको बिलकुल मौका नही मिलता, उनके लिये तो व्यायाम अत्यन्त आवश्यक है :—

विरुद्ध वा विदग्ध वा भुक्त शीघ्र विपच्यते।
शीघ्रं भवति नैतस्य देहे शिथिलतादयः॥

अष्टागहृदय

अर्थात् ऐसे लोग जो प्रकृति के विरुद्ध गरिष्ट भोजन करते है, उनका भोजन भी व्यायाम से पच जाता है, और शरीर मे शीघ्र शिथिलता नही आने पाती। जिन लोगों की चर्बी बे-तरह बढ़ रही हो, और शरीर बेडौल मोटा हो रहा हो, उनके लिए व्यायाम एक बड़ी भारी औषधि है :—

न चैन सहसाक्रम्य जरा समधिरोहति।
न चास्ति सदृश तेन किंचित्स्थौल्यापकर्षकम्॥

भावप्रकाश

व्यायाम करने से जल्दी बुढ़ापा नही घेरता; और यदि व्यायाम बराबर करता रहे, तो मनुष्य मृत्युपर्यन्त अजर अर्थात् युवा रह सकता है। और जो लोग बेडौल मोटे हो जाते हैं, उनका मोटापन भी छूट जाता है। परन्तु सब लोगों के लिए सदैव व्यायाम हितकर भी नही है। आजकल आयुर्वेद के नियम जाने बिना सब तरह के लोग जो बेतरह और असमय कुसमय व्यायाम करने लग जाते हैं, इससे बड़ी हानि होती है :—

मुक्तवान्कृतसंभोगः कासी श्वासी कृशः क्षयी।
रक्तपित्ती क्षती शोषी न तं कुर्यात्कदाचन् ॥

भावप्रकाश

जो अभी हाल ही में भोजन अथवा स्त्री-प्रसंग कर चुका है, अर्थात् जो ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन नहीं करता, जिसको खाँसी या श्वास का रोग है, इनको व्यायाम कभी न करना चाहिए। हाँ, यदि हो सके, तो खुली हवा में धीरे-धीरे टहलने का व्यायाम ये लोग भी कर सकते हैं। अत्यन्त कठोर व्यायाम तो सभी के लिये हानिकारक है। जितना व्यायाम शरीर से सहन हो सके उतना ही व्यायाम करना चाहिए। अति सब जगह वर्जित है :—

तृष्णाक्षयः प्रतमको रक्तपित्तं श्रमः क्लमः।
अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ॥

अष्टांगहृदय

बहुत व्यायाम करने से शरीर में खुश्की बढ़ती है, तृषा का रोग हो जाता है, क्षय, श्वास, रक्तपित्त, ग्लानि, खाँसी, इत्यादि के रोग हो जाते हैं।

इसलिए अधिक व्यायाम न करना चाहिये। व्यायाम का इतना ही मतलब है कि शरीर से परिश्रम किया जाय, जिससे भोजन पचे, और दृढ़ता आवे। व्यायाम अनेक प्रकार के हैं, परन्तु अनुभव से जाना गया है कि खुली हवा में बस्ती के बाहर, प्रकृति-सौन्दर्य से पूर्ण हरे-भरे जंगल अथवा पहाड़ों इत्यादि में खूब तेजी के साथ भ्रमण करना सबसे अच्छा व्यायाम है। भ्रमण करते समय हाथ बिलकुल खुले छोड़ देना चाहिये, और

सब शरीर के अंग प्रत्यंगों का संचालन स्वाभाविक रूप से होने देना चाहिये। श्वास को रोकने का प्रयत्न न करना चाहिये और मुख से श्वास कभी न लेना चाहिये। किसी प्रकार का भी व्यायाम हो, सदैव नासिका से ही श्वास लेना और छोड़ना लाभदायक है।

आजकल हमारे विद्यार्थियों में अंगरेजी व्यायाम की प्रथा चल पड़ी है। यह बहुत ही हानिकारक है। दण्ड, मुग्दर, कुश्ती दौड़, कबड्डी इत्यादि देशी व्यायाम का समय सुबह और शाम बहुत अच्छा है। असमय में भूखे प्यासे विद्यार्थियों को व्यायाम करना मानों उनको जान बूझ कर मृत्यु के मुख में देना है।

भोजन

भोजन शरीर के लिये आवश्यक है। परन्तु भोजन ऐसा ही करना चाहिये कि जो शुद्ध हो। क्योंकि जैसा हम भोजन करेंगे, वैसी ही हमारी बुद्धि, मन और शरीर बनेगा। अर्थात् भोजन की शुद्धि पर ही हमारे जीवन की शुद्धि अवलम्बित है। महाभारत उद्योगपर्व में लिखा है :—

यच्छक्य ग्रसितु ग्रास्यं ग्रस्त परिणमेच्च यत्।
हित च परिणामे यत्तदाद्य भूतिमिच्छता॥

महाभारत, उद्योगपर्व

जो पदार्थ भोजन करने योग्य हों, पचने योग्य हो, तथा परिणाम में गुणकारी हों, उन्ही पदार्थों का भोजन आरोग्यता की इच्छा रखने वालों को करना चाहिये। सत्त्वगुण, रजोगुण और

तमोगुण के अनुसार तीन प्रकार के आहार, जो गीता मे बतलाये गये है, उनमे से सत्त्वगुणी लोगों को जो प्रिय हैं, उन्ही आहारों को ग्रहण करके अन्य दो प्रकार के आहारो का त्याग करना चाहिये। सत्त्वगुणी आहार इस प्रकार बतलाया गया है :—

आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

गीता, अ० १७

अर्थात् आयु, जीवन की पवित्रता, बल, आरोग्य, सुख, प्रेम को बढ़ाने वाले सरस, चिकने, पुष्टिकारक, रुचिकारक आहार सात्विक लोगों को प्यारे होते है। बस यही गुण जिन पदार्थों मे मे हों, उन्हीं का भोजना करना चाहिये। अब रजोगुण और तमोगुण आहार जिनका त्याग करना चाहिए, बतलाते है :—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्ष विदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥

गीता, अ० १७

कड़्वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे और कलेजे को जलाने वाले आहार राजसी मनुष्यों को पसन्द आते हैं। ये आहार दुख, शोक और रोग उपजाते है। अतएव इनको त्यागना चाहिये। अब तमोगुणी आहार देखिये :—

यातयाम गतरस पूति पर्युषित च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्य भोजन तामसप्रियम्॥

गीता, अ० १७

एक पहर का रखा हुआ, नीरस, सड़ा-बुस, जूठा, और अशुचि (मासादि) तमोगुण लोगों का भोजन है। इस भोजन को भी अत्यन्त निकृष्ट और त्याज्य समझना चाहिये।

इसके अतिरिक्त देश-काल का भी विचार करके जहाँ जिस समय जैसा आहार मिलता हो उसमें से सात्विक और अपने लिये हितकर आहार ग्रहण करना चाहिए। भोजन बहुत अधिक नहीं करना चाहिए, किन्तु पेट को कुछ खाली रखना चाहिए। भगवान् मनु कहते हैं :—

> अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
> अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥
>
> मनु०, अ० २

बहुत भोजन करना आरोग्य, आयु और सुख के लिए हानिकारक है इससे पुण्य भी नहीं और लोगों में निन्दा होती है। इसलिए बहुत भोजन नहीं करना चाहिए।

भोजन के पहले और पीछे हाथ-पैर और मुख भली भाँति धो डालना चाहिए। भोजन ठीक समय पर करना चाहिए। प्रातःकाल १० बजे और सायंकाल को सूर्य डूबने के पहले भोजन कर लेना चाहिए। भोजन सिर्फ सायं-प्रातः दो ही बार करना चाहिए। बीच में जल के अतिरिक्त और कुछ नहीं ग्रहण करना चाहिए। महाभारत में कहा है :—

> सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम्।
> नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत्॥
>
> महाभारत, शान्तिपर्व

सुबह शाम दो ही बार भोजन करना मनुष्यों के लिए देवताओं ने बनाया है, बीच में भोजन नहीं करना चाहिए। इससे उपवास का फल होता है।

पीने के लिए शुद्ध जल से उत्तम पदार्थ और कोई भी नहीं है। गौ का शुद्ध ताजा दूध भी प्रातःकाल ७ बजे के लगभग

ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु बहुत लोगों की सम्मति है कि दुग्ध इत्यादि भी भोजन के साथ ही लेना चाहिए, अलग पीने की आवश्यकता नही। बीच-बीच मे तो केवल शुद्ध जल ही ग्रहण करना चाहिए। आयुर्वेद के आचार्य महर्षि सुश्रुत जी शुद्ध जल का लक्षण इस प्रकार बतलाते है :—

निर्गन्धमव्यक्तरसं तृष्णाघ्नं शुचि शीतलम्।
अच्छं लघु च हृद्यं च तोयं गुणवदुच्यते ॥

सुश्रुत, सूत्रस्थात, अ० ४५

जिसमे किसी प्रकार की सुगन्ध या दुर्गन्ध न हो किसी प्रकार का विशेष स्वाद न जान पड़े, जिससे प्यास मिटे, पवित्र हो, शीतल हो, अच्छा हो, हल्का हो, प्रिय हो, ऐसा जल गुणकारी माना गया है। इसी प्रकार का जल सेवन करना चाहिए भोजन के सम्बन्ध से जल का सेवन इस प्रकार बतलाया है :—

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम् ॥
भोजने चामृतं वारि भोजनान्ते विषप्रदम् ॥

चाणक्यनीति

अजीर्ण मे जल औषधि का काम करता है, और भोजन पच जाने पर जल बलदायक होता है। भोजन करते समय बीच मे थोड़ा-थोड़ा जल पीते रहने से वह अमृत की तरह लाभदायक होता है। परन्तु भोजन के अन्त मे बहुत सा जल एकदम पी लेने से वह विष की तरह हानिकारक होता है।

प्रथम तो भोजन अपने घर का ही शुद्धता के साथ बना हुआ, ग्रहण करना चाहिए। फिर जिनके यहाँ का हमको विश्वास हो, जो पवित्र मनुष्य हो, जिनका व्यवसाय पवित्र हो, मद्य-मांस का सेवन न करते हो, धर्मात्मा हों ऐसे लोगो के यहाँ भी भोजन ग्रहण करने मे कोई हानि नहीं।

इसके सिवाय,भक्ष्याभक्ष्य में अफीम, गांजा, भांग, चरस, मद्य, ताड़ी, बीड़ी-सिगरेट चाय इत्यादि सब का निषेध है। अर्थात् जितनी नशीली चीजे हैं, उनका कभी सेवन न करना चाहिए। नशीली चीज का लक्षण आयुर्वेद मे इस प्रकार दिया गया है :—

बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।

शार्ङ्गधर, अ० ४

अर्थात् जिस चीज के सेवन से बुद्धि का नाश होता है, वही चीज नशीली है। उसका सेवन न करना चाहिए।

निद्रा

प्रवृत्ति और निवृत्ति से सृष्टि चलती है। प्रवृति के बाद निवृत्ति, और निवृत्ति के बाद प्रवृत्ति सृष्टि का आवश्यक नियम है। इसी प्रकार दिन को कार्य करना और रात को आराम करना सब जीवों के लिए आवश्यक है। मनुष्येतर जीव तो इस विषय मे नियम से खूब बँधे हुए है। जहाँ सायंकाल हुआ, चिड़ियाँ बसेरा लेने के लिए अपने-अपने घोसलों की ओर दौड़ती है। परन्तु मनुष्य प्राणी का कोई नियम नही है, और इसी कारण अल्पायु होकर मर जाता है। कितने ही लोग प्रकृति के विरुद्ध आचरण करते हैं। दिन को सोते तथा रात को जागते है, अथवा दिन रात मे सोने और काम करने का कोई नियम न बाँधकर बारह या एक बजे रात तक जागते रहते हैं। और सूर्योदय के बाद सात-आठ बजे तक भी सोते रहते हैं। इससे उनकी आरोग्यता खराब हो जाती है, और आयु क्षीण होकर वे शीघ्र ही मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं। इसलिए ठीक

समय पर सोने और ठीक समय पर जागने का नियम मनुष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

ब्राह्ममुहूर्त का वर्णन करते हुए बतला चुके है कि मनुष्य को रात के अन्त मे साधारणतया ४ बजे शय्या अवश्य त्याग देनी चाहिए। परन्तु ४ बजे तड़के उठने के लिए रात के पहले पहर अर्थात् ६ बजे के लगभग मनुष्य को अवश्य सो जाना चाहिए। साधारण स्वस्थ मनुष्य के लिए ६ या ७ घण्टे की निद्रा पर्याप्त है। बालकों को आठ या नौ घण्टे सोना चाहिए। दिन मे अनेक कार्यों मे प्रवृत्ति रहने के कारण मनुष्य को जो शारीरिक और मानसिक श्रम पड़ता है उसको दूर करके सब इन्द्रियों और मन को फिर से तरो-ताजा करने के लिए ६-७ घण्टे की गहरी निद्रा लेनी चाहिए। परन्तु हम देखते हैं कि कई लोगो को गहरी निद्रा नही आती। रात को बारबार नीद खुल जाती है, अथवा बुरे-बुरे स्वप्नों के कारण निद्रावस्था मे भी उनके मन को पूरा-पूरा विश्राम नहीं मिलता। इसका कारण यही है कि ऐसे मनुष्यों की दिनचर्या ठीक नही रहती। जो लोग ज्यादा चिन्ता मे पड़े रहते है, अथवा रात को बहुत गरिष्ठ भोजन करके एक दम सो जाते हैं, उनको कभी गहरी नीद नही आ सकती। इस लिए जिनको पुष्ट भोजन करना हो, उनको सूर्य डूबने के पहले ही शाम को भोजन कर लेना चाहिए। इससे ९ बजे रात तक वह भोजन बहुत कुछ पच जायगा, और उनको गहरी निद्रा आयेगी। इसके सिवाय दिन के कार्य नियमित रूप से करने चाहिए। शरीर को काफी परिश्रम भी मिलना चाहिए, क्योंकि जो लोग काफी शारीरिक परिश्रम या व्यायाम नहीं करते है, उनको भी गहरी नींद नही आती। दिन को कार्य करते समय मन को व्यग्र नहीं रखना चाहिए, बल्कि सब कार्य स्थिर चित्त से करना चाहिए। प्रत्येक कार्य मे मन की एकाग्रता और निश्चिन्तता

इसके सिवाय भक्ष्याभक्ष्य में अफीम, गांजा, भांग, चरस, मद्य, ताड़ी, बीड़ी-सिगरेट चाय इत्यादि सब का निषेध है। अर्थात् जितनी नशीली चीजे हैं, उनका कभी सेवन न करना चाहिए। नशीली चीज का लक्षण आयुर्वेद मे इस प्रकार दिया गया है :—

बुद्धि लुम्पति यद्द्रव्य मदकारि तदुच्यते।

शार्ङ्गधर, अ० ४

अर्थात् जिस चीज के सेवन से बुद्धि का नाश होता है, वही चीज नशीली है। उसका सेवन न करना चाहिए।

निद्रा

प्रवृत्ति और निवृत्ति से सृष्टि चलती है। प्रवृति के बाद निवृत्ति, और निवृत्ति के बाद प्रवृत्ति सृष्टि का आवश्यक नियम है। इसी प्रकार दिन को कार्य करना और रात को आराम करना सब जीवों के लिए आवश्यक है। मनुष्येतर जीव तो इस विषय मे नियम से खूब बॅधे हुए हैं। जहॉ सायंकाल हुआ, चिड़ियॉ बसेरा लेने के लिए अपने-अपने घोसलो की ओर दौड़ती है। परन्तु मनुष्य प्राणी का कोई नियम नही है, और इसी कारण अल्पायु होकर मर जाता है। कितने ही लोग प्रकृति के विरुद्ध आचरण करते हैं। दिन को सोते तथा रात को जागते है, अथवा दिन रात मे सोने और काम करने का कोई नियम न बॉधकर बारह या एक बजे रात तक जागते रहते हैं। और सूर्योदय के बाद सात-आठ बजे तक भी सोते रहते है। इससे उनकी आरोग्यता खराब हो जाती है, और आयु क्षीण होकर वे शीघ्र ही मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं। इसलिए ठीक

चित्त को हटा कर एक ईश्वर की तरफ लगावे, उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना के श्लोक पढ़ते हुए और उसी मे मन को एकाग्र करके सो जावे। उपनिषद् मे कहा है :—

> स्वप्नान्त जागरितान्त' चोभौ येनानुपश्यति।
> महान्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति॥

कठोपनिषद्

अर्थात् निद्रा के अन्त मे और जागृत अवस्था के अन्त मे अर्थात् सोने से पहले, जो उस महान सर्वव्यापी परमात्मा मे अपना चित्त लगाकर, उसी की स्तुति उपासना और प्रार्थना करके, उसी मे मग्न होकर, उसी का दर्शन करते हुये, सो जाता है, उसको कष्ट नही होता।

इस प्रकार जो मनुष्य दिन भर सदाचार-पूर्वक अपमे सब व्यवसाय करके और अन्त मे पवित्रता पूर्वक पवित्र शैया पर, परमात्मा का ध्यान करते हुए निद्रा की गोद मे यथासमय स्वस्थ विश्राम करते हैं, उनको ही गहरी निद्रा का परम लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार समय पर सोने से क्या लाभ है, आयुर्वेद कहता है —

> निद्रा तु सेविता काले धातुसाम्यमतांद्रताम्।
> पुष्टिवर्णबलोत्साह वह्निर्दीप्तिं करोति हि॥

भावप्रकाश

समय पर और यथानियम सोने से मनुष्य के शरीर की सब धातुएँ सम रहती हैं किसी प्रकार का आलस दिन मे नही आता; शरीर पुष्ट होता है, रंग खिलता है, बल और उत्साह बढ़ता है, और जठराग्नि प्रदीप्त होकर भूख बढ़ती है।

हाँ, एक बात और है। हमने गम्भीर निद्रा आने के लिए

रखने से रात को नींद अच्छी आती है। कई लोग दिन को बहुत सा सो लेते हैं। इस कारण भी रात को उन्हें नींद नही आती। दिन को सोना बहुत ही हानिकारक है :—

अनायुष्य दिवास्वप्न तथाभ्युदिशायिता ।
प्रगे निशामाशु तथा के चोच्छिष्याः स्वपन्ति ॥

महाभारत, अनुशासनपर्व

दिन मे सोने से, और दिन चढ़ आने तक सोते रहने से आयु का नाश होता है। इसी प्रकार जो लोग रात्रि के अन्तिम भाग मे सोते हैं, और अपवित्र रह कर सोते है, उनकी भी आयु क्षीण होती है।

दिन को सोने से क्या हानि होती है, इस विषय मे आयुर्वेद कहता है :—

दिवा स्वाप न कुर्वीत यतोऽसौ स्यात्कफावहः ।
ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु दिवास्वप्नो निषिध्यते ॥

दिन मे न सोना चाहिए, क्योकि इससे कफ की वृद्धि होती है। हाँ, ग्रीष्मकाल मे यदि थोड़ा आराम कर ले, तो कोई हानि नही, क्योकि इस ऋतु मे एक तो दिन बड़े होते हैं, दोपहर को कड़ी धूप और गर्मी मे कार्य भी कम होता है, और कफ का प्रकोप भी स्वभावतः प्रकृति मे कम हो जाता है।

रात को ९ और १० बजे के अन्दर हाथ-पैर-मुँह इत्यादि धोकर शुभ स्वच्छ शैया के ऊपर मन को सब संकल्प-विकल्पों से हटा कर सोना चाहिये। चारपाई पर पड़ कर मन मे किसी प्रकार के भी सकल्प-विकल्प न लाना चाहिए। क्योंकि जब तक मन शान्त नहीं होता है, गहरी निद्रा नही आती है। मन को शान्त करने का सबसे बड़ा साधन यही है कि सब विषयों से

चित्त को हटा कर एक ईश्वर की तरफ लगावे, उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना के श्लोक पढ़ते हुए और उसी मे मन को एकाग्र करके सो जावे। उपनिषद् मे कहा है :—

स्वप्नान्त जागरितान्त' चोभौ येनानुपश्यति।
महान्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति॥

कठोपनिषद्

अर्थात् निद्रा के अन्त मे और जागृत अवस्था के अन्त मे अर्थात् सोने से पहले, जो उस महान सर्वव्यापी परमात्मा मे अपना चित्त लगाकर, उसी की स्तुति उपासना और प्रार्थना करके, उसी मे मग्न होकर, उसी का दर्शन करते हुये, सो जाता है, उसको कष्ट नही होता।

इस प्रकार जो मनुष्य दिन भर सदाचार-पूर्वक अपने सब व्यवसाय करके और अन्त मे पवित्रता पूर्वक पवित्र शैया पर, परमात्मा का ध्यान करते हुए निद्रा की गोद मे यथासमय स्वस्थ विश्राम करते हैं, उनको ही गहरी निद्रा का परम लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार समय पर सोने से क्या लाभ है, आयुर्वेद कहता है —

निद्रा तु सेविता काले धातुसाम्यमतन्द्रिताम्।
पुष्टिवर्णबलोत्साह वह्निदीप्तिं करोति हि॥

भावप्रकाश

समय पर और यथानियम सोने से मनुष्य के शरीर की सब धातुएँ सम रहती हैं किसी प्रकार का आलस दिन मे नही आता; शरीर पुष्ट होता है, रंग खिलता है, बल और उत्साह बढ़ता है; और जठराग्नि प्रदीप्त होकर भूख बढ़ती है।

हाँ, एक बात और है। हमने गम्भीर निद्रा आने के लिए

सूर्य डूबने के पहले भोजन का विधान किया है, परन्तु कई गृहस्थों के लिये ऐसा सम्भव नहीं है। उनके लिए आयुर्वेद के ग्रन्थ भावप्रकाश में इस प्रकार आज्ञा दी है :—

रात्रौ च भोजनं कुर्यात् प्रथमं प्रहरान्तरे।
किंचिदूनं समश्नीयात् दुर्जरं तत्र वर्जयेत्॥

अर्थात् ऐसे गृहस्थ, जिनको सूर्य डूबने के पहले अपने व्यवसाय के कारण, भोजन करना असम्भव है, सूर्य डूबने के बाद भोजन कर सकते है, परन्तु शर्त यह कि वे रात के पहले पहर के अन्दर ही भोजन कर ले, और कुछ कम भोजन करें, तथा गरिष्ठ भोजन तो बिलकुल ही न करें। हल्का भोजन जैसे दुग्धपान इत्यादि कर सकते है। जिनको गरिष्ठ भोजन, अर्थात् अधिक देर मे पचने वाला भोजन करना हो उनके सूर्य डूबने से पहले ही शाम को भोजन करना अनिवार्य है।

निद्रा के इन सब नियमों का पालन करने से मनुष्य अवश्य आरोग्य रहेगा। आरोग्यता धर्म का मूल है।

पाँचवाँ खण्ड

अध्यात्म-धर्म

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

—गीता अ० ४-३८ ।

ईश्वर

ईश्वर का मुख्य लक्षण हिन्दू धर्म मे "सच्चिदानन्द" माना गया है—अर्थात् सत् + चित् + आनन्द। सत् का अर्थ है जो सदैव से है, और सदैव रहेगा। चित् का अर्थ है चैतन्य स्वरूप या सम्पूर्ण शक्तियों का प्रेरक, सर्वशक्तिमान् और आनन्द-स्वरूप—अर्थात् सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष इत्यादि सब द्वन्द्वों से परे है। महर्षि पतञ्जलि योगदर्शन मे कहते हैं :—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

योगदर्शन

अर्थात् जो अविद्यादि, क्लेश, कुशल, अकुशल, इष्ट, अनिष्ट और मिश्रफलदायक कर्मों की वासना से रहित है, जीवमात्र से विशेष है, वही ईश्वर है, ईश्वर छोटे से छोटा और बडे से बड़ा है, क्योंकि वह सब मे व्यापक होकर भी सब को चला रहा है। जीव सबसे छोटा माना गया है, परन्तु वह ईश्वर जीव के अन्दर भी बसता है। आकाश और मन इत्यादि द्रव्य सबसे छोटे हैं, परन्तु परमात्मा इनके अन्दर भी व्यापक है।

वह देवो का देव है। तैतीस कोटि देवता हैं। अर्थात् देवताओं की तैंतीस कोटि हैं, उनके अन्दर भी ईश्वर बस रहा है, और ईश्वर के अन्दर वे बस रहे हैं देवताओ की तैतीस कोटियो की व्याख्या शतपथ ब्राह्मणों मे इस प्रकार की गई है :—

आठ वसु—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र। ये सब सृष्टि के निवासस्थान होने के कारण वसु कहाते हैं।

ग्यारह रुद्र—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कुर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा, ये ग्यारह रुद्र, इसलिए कहलाते है कि जब ये शरीर छोडते है, तब रुलाते है।

बारह आदित्य—संवत्सर के बारह महीने ही बारह आदित्य कहलाते है। काल का नियमन यही करते है, इसलिए इनकी आदित्य सञ्ज्ञा है।

एक इन्द्र—इन्द्र विद्युत् को कहते है, जिसके कारण सृष्टि का परम ऐश्वर्य स्थापित है।

एक प्रजापति—प्रजापति यज्ञ को कहते हैं, क्योकि इसी के कारण सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा होती है। वायु, वृष्टि, जल, औषधि इत्यादि की शुद्धि सत्पुरुषों का सत्कार और नाना प्रकार के कला-कौशल और विज्ञान का आविर्भाव यज्ञ ही से होता है।

यही तैंतीस कोटियां देवताओं की है। इसका प्रेरक, सब का अधिष्ठाता सब का निवासस्थान ईश्वर है। ईश्वर ही सम्पूर्ण सृष्टि का कर्त्ता, धर्ता, संहर्ता है। अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि को उसी ने रचा है वही पालन-पोषण और धारण करता है, और वही प्रलयकाल मे इसका संहार करता है। वह सृष्टि उत्पन्न होने के पहले विद्यमान् था, और सृष्टि का लय हो जाने पर भी विद्यमान् रहेगा। वह किसी से पैदा नही हुआ है उसी से सब पैदा हुआ। वह अनादि अनन्त है, सब मे व्यापक होकर, सब को पकड़े हुये है, और सबको नियमन करके चलाता है। उसके हाथ, पैर, नाक, कान, आँख, इत्यादि कुछ भी नही है, परन्तु सर्वशक्तिमान् होने के कारण सब कुछ करता है, परन्तु फिर भी किसी कर्म मे फँसता नहीं। इसीलिए कहा है :—

सर्वेन्द्रियगुणाभास, सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।

यदि कहे कि वह हमको दिखाई क्यो नही देता, तो इसका

उत्तर यही है कि ये चमडे की आँखे जो परमात्मा ने हमको दी हैं, सिर्फ दृश्य जगत् देखने के लिए दी है। सो पूरा पूरा दृश्य जगत् भी हम इनसे नही देख सकते। अपनी आँख मे लगा हुआ अञ्जन और सिर का ऊपरी भाग तथा बहुत सा चेहरा भी हम अपनी इन आँखों से नही देख सकते। सूक्ष्म जन्तु जो हवा मे उडते रहते हैं, उनको हम नही देख सकते। फिर उस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों मे व्यापक और जीवात्मा से भी सूक्ष्म परमात्मा को हम इन आँखों से कैसे देख सकते है। यहाँ तक कि मन और आत्मा से भी हम उसको नही देख सकते—जब तक कि अपने मन और आत्मा को ज्ञान से शुद्ध न कर लेवे। जैसे शीशे पर मैल जम जाने से उसके द्वारा हम अपना मुख नही देख सकते, उसी प्रकार जब तक मन और जीव पर अज्ञान की काई जकड़ी हुई है, तब तक हम ईश्वर को नही देख सकते। ईश्वर को देखने के लिए अपने सब दुर्गुणों को छोडना पडेगा। न्याय, सत्य, दया, परोपकार, अहिंसा इत्यादि दिव्य गुणो को पूर्ण रूप से धारण करना पड़ेगा। सब ईश्वरीय सद्गुणों को जब हम अपनी आत्मा मे धारण कर लेवे, तब वह हमको अपने अन्दर स्वयं ही दिखाई पड़ने लगेगा। क्योंकि उसको देखने के लिए कहीं जाना थोड़ा ही है—वह तो सभी जगह है। हमारी आत्मा मे आप प्रकाशित है पर आत्मा मलीन होने के कारण वह हमको दिखाई नहीं देता। योगी लोग तप और सत्य से आत्मा को परिमार्जित करके सदैव उसको देखते हैं। उपनिषद् मे कहा है :—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितायात्मनि यत्सुख भवेत्।
न शक्यते वर्णयितु गिरा तदा
स्वयन्तदन्त: करणेन गृह्यते॥

उपनिषद

जो योगाभ्यास के द्वारा अपने चित्त के अज्ञानादि सब मैल धो डालता है, और अपनी आत्मा में ही स्थिर होकर फिर उस शुद्ध चित्त को परमात्मा में लगाता है, उसको जो अपूर्व सुख होता है वह वाणी-द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस परम आनन्द को तो जीवात्मा अपने अन्तःकरण में ही अनुभव कर सकता है।

योगाभ्यास से समाधि में परमात्मा का दर्शन करने के पहले मनुष्य को योगशास्त्र में बतलाये हुए यम-नियम, दोनों का साथ ही साथ अभ्यास कर लेना होता है, क्योंकि जब तक इन यमों और नियमों का पूर्ण रूप से साधन नहीं कर लिया जाता, तब तक चित्त की वृत्ति एकाग्र नहीं होती और न योग-सिद्धि होती है। यम पाँच हैं:—

तत्राऽहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।

योगदर्शन

(१) अहिंसा अर्थात् किसी से वैर न करे, (२) सत्य बोले, सत्य माने, सत्य काम करे, असत्य का व्यवहार कभी न करे, (३) परधन और पर स्त्री की इच्छा न करे, (४) ब्रह्मचर्य—जितेन्द्रिय हो, इन्द्रिय-लम्पट न हो, (५) अपरिग्रह—सब प्रकार का अभिमान छोड़ देवे। इसी प्रकार पाँच नियम हैं:—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

योगदर्शन

(१) रागद्वेष छोड़कर भीतर से, और जलादि द्वारा बाहर से शुद्ध रहे, (२) धर्मपूर्वक पुरुषार्थ करने से जो लाभ-हानि हो, उसमें हर्ष शोक न मनावे, सदा सन्तुष्ट रहे, (३) सुखदुख का सहन करते हुए धर्माचरण करता रहे, (४) सदा सत्य शास्त्रों को

पढ़ता पढ़ाता रहे, और सत्पुरुषो का संग करे, (५) ईश्वर-प्रणि-धान—अर्थात् परमात्मा के सर्वोत्तम नाम 'ओ३म्" का अर्थ का विचार कर के इसी का जप किया करे, और अपने आपको परमात्मा के आज्ञानुसार सब प्रकार से समर्पित कर देवे।

इन यम और नियमो का जब पहले मनुष्य, साथ ही साथ अभ्यास कर लेता है, तब उसे अष्टांगयोग की सिद्धि क्रमशः होती है। योग के आठ अंग इस प्रकार हैं :—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि। यम और नियमों का ऊपर वर्णन हो चुका है। इनके बाद आसन है। आसन चौरासी प्रकार के हैं, पर मुख्य यही है कि जिस बैठक से मनुष्य स्थिरता के साथ और सुखपूर्वक बैठा रहे, उसी का साधन करे। फिर प्राणायाम* अर्थात् श्वास के लेने और छोड़ने की गति के नियमन करने का अभ्यास करे। इसके बाद प्रत्याहार—अर्थात् इन्द्रियों और मन सब को सब बाहरी विषयों से हटा कर आत्मा मे स्थिर करने का अभ्यास करे। फिर धारणा - अर्थात् अपनी आत्मा को भीतर परमात्मा मे स्थिर करने का अभ्यास करे। इसके बाद ध्यान—अर्थात् स्थिर हुई आत्मा को बराबर परमात्मा मे कुछ समय तक रखने का अभ्यास करे। फिर समाधि—अर्थात् आत्मा को परमात्मा मे पूर्णतया बराबर लगाने का अभ्यास करे। अर्थात् जितनी देर तक चाहे, ईश्वर मे स्थित रहे। उसका दर्शन किया करे। ऐसी दशा मे मनुष्य को ईश्वर के दर्शन का आनन्द हुआ करता है, बाहरी जगत् का उसको कुछ भान नही रहता। चित्त ईश्वर मे तल्लीन रहता है।

---

*इस विषय में हमारी "प्राणायामरहस्य" नामक पुस्तक तरुण-भारत ग्रन्थावली, इलाहाबाद न० ६ के पते से मँगा कर पढ़नी चाहिए।

जो योगाभ्यास के द्वारा अपने चित्त के अज्ञानादि सब मैल धो डालता है, और अपनी आत्मा में ही स्थिर होकर फिर उस शुद्ध चित्त को परमात्मा में लगाता है, उसको जो अपूर्व सुख होता है वह वाणी-द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उस परम आनन्द को तो जीवात्मा अपने अन्तःकरण में ही अनुभव कर सकता है।

योगाभ्यास से समाधि में परमात्मा का दर्शन करने के पहले मनुष्य को योगशास्त्र में बतलाये हुए यम-नियम, दोनों का साथ ही साथ अभ्यास कर लेना होता है, क्योंकि जब तक इन यमों और नियमों का पूर्ण रूप से साधन नहीं कर लिया जाता, तब तक चित्त की वृत्ति एकाग्र नहीं होती और न योग-सिद्धि होती है। यम पाँच हैं:—

तत्राऽहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

योगदर्शन

(१) अहिंसा अर्थात् किसी से वैर न करे, (२) सत्य बोले, सत्य माने, सत्य काम करे, असत्य का व्यवहार कभी न करे, (३) परधन और पर स्त्री की इच्छा न करे, (४) ब्रह्मचर्य—जितेन्द्रिय हो, इन्द्रिय-लम्पट न हो, (५) अपरिग्रह—सब प्रकार का अभिमान छोड़ देवे। इसी प्रकार पाँच नियम हैं:—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

योगदर्शन

(१) रागद्वेष छोड़कर भीतर से, और जलादि द्वारा बाहर से शुद्ध रहे, (२) धर्मपूर्वक पुरुषार्थ करने में जो लाभ-हानि हो, उसमें हर्ष शोक न मनावे, सदा सन्तुष्ट रहे, (३) सुखदुख का सहन करते हुए धर्माचरण करता रहे, (४) सदा सत्य शास्त्रों को

पढ़ता पढ़ाता रहे, और सत्पुरुषो का संग करे, (५) ईश्वर-प्रणि-धान—अर्थात् परमात्मा के सर्वोत्तम नाम 'ओ३म्" का अर्थ का विचार कर के इसी का जप किया करे, और अपने आपको पर-मात्मा के आज्ञानुसार सब प्रकार से समर्पित कर देवे ।

इन यम और नियमो का जब पहले मनुष्य, साथ ही साथ अभ्यास कर लेता है, तब उसे अष्टांगयोग की सिद्धि क्रमशः होती है । योग के आठ अंग इस प्रकार हैं :—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि । यम और नियमों का ऊपर वर्णन हो चुका है । इनके बाद आसन है । आसन चौरासी प्रकार के हैं, पर मुख्य यही है कि जिस बैठक से मनुष्य स्थिरता के साथ और सुखपूर्वक बैठा रहे, उसी का साधन करे । फिर प्राणायाम* अर्थात् श्वास के लेने और छोड़ने की गति के नियमन करने का अभ्यास करें । इसके बाद प्रत्याहार—अर्थात् इन्द्रियों और मन सब को सब बाहरी विषयों से हटा कर आत्मा मे स्थिर करने का अभ्यास करे । फिर धारणा - अर्थात् अपनी आत्मा को भीतर परमात्मा मे स्थिर करने का अभ्यास करे । इसके बाद ध्यान—अर्थात् स्थिर हुई आत्मा को बराबर परमात्मा मे कुछ समय तक रखने का अभ्यास करे । फिर समाधि—अर्थात् आत्मा को परमात्मा मे पूर्णतया बराबर लगाने का अभ्यास करे । अर्थात् जितनी देर तक चाहे, ईश्वर मे स्थित रहे । उसका दर्शन किया करे । ऐसी दशा मे मनुष्य को ईश्वर के दर्शन का आनन्द हुआ करता है, बाहरी जगत् का उसको कुछ भान नहीं रहता । चित्त ईश्वर मे तल्लीन रहता है ।

---

*इस विषय में हमारी "प्राणायामरहस्य" नामक पुस्तक तरुण-भारत ग्रन्थावली, इलाहाबाद न० ६ के पते से मँगा कर पढ़नी चाहिए ।

इस प्रकार समाधि को सिद्ध करके ही मनुष्य ईश्वर का सच्चा स्वरूप देख सकता है। यों तो जहाँ तक उसका वर्णन किया जाय, थोड़ा है। उस अनन्त का अन्त कौन पा सकता है ?

जीव

ईश्वर के बाद जीव है। इसको कोई कोई आत्मा और जीवात्मा भी कहते हैं। जीव का अर्थ है चेतनतायुक्त और आत्मा का अर्थ है—व्यापक। जीवात्मा चेतन भी है, और व्यापक भी है। ईश्वर मे सत+चित्+आनन्द, तीनों लक्षण है। जीव मे सिर्फ प्रथम दो लक्षण अर्थात्, सत् और चित् हैं। सत् अर्थात् यह अविनाशी, सदैव रहने वाला अमर है, और चित् अर्थात् चैतन्ययुक्त है। इसमे तीसरा आनन्द गुण नही है। आनन्द सिर्फ परमात्मा मे ही है। परमात्मा की उपासना कर के, उसके समीप स्थिर होकर, यह उससे आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। ईश्वर और जीव का सम्बन्ध उपास्य और उपासक का है। दर्शनो मे जीवात्मा के लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं।—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥ १ ॥

न्यायदर्शन

प्राणापाननिमेषोन्मेषमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि ॥ २ ॥

वैशेषिक दर्शन

अर्थात् इच्छा—पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा। द्वेष—दुःखादि की अनिच्छा या वैर। प्रयत्न—बल या पुरुषार्थ।

सुख – आनन्द। दुख—विलाप या अप्रसन्नता। ज्ञान—विवेक या भले बुरे की पहचान। ये लक्षण जीवात्मा के न्यायशास्त्र मे बतलाये गये हैं।

वैशेषिक दर्शन मे जीवात्मा के निम्नलिखित विशेष गुण बतलाये हैं :—

प्राण—प्राण को बाहर से भीतर को लेना। अपान—प्राण-वायु को बाहर को निकालना। निमेष—आँख को मींचना। उन्मेष—आँख खोलना। मन—निश्चय, स्मरण और अहङ्कार करना। गति—चलने की शक्ति। इन्द्रिय—सब विषयों को ग्रहण करने की शक्ति। अन्तरविकार—क्षुधा-तृषा हर्ष-शोक इत्यादि द्वन्द्व का होना।

इन्हीं सब लक्षणो से जीव की सत्ता जानी जाती है। जब तक ये गुण शरीर मे रहते हैं, तभी तक समझो कि जीवात्मा शरीर के अन्दर है, और जब जीवात्मा शरीर को छोड़ कर चला जाता है तब ये गुण नहीं रहते।

उपर्युक्त इष्ट अनिष्ट गुणों के कारण ही जीव कर्म करने मे प्रवृत्त होता है। कर्म करने मे जीव बिलकुल स्वतन्त्र है। जैसे मन मे आवे, बुरा-भला कर्म करे। परन्तु फल भोगने मे वह परतन्त्र है। अर्थात् फल का देने वाला ईश्वर है। जीव को वह अधिकार नहीं हैं कि वह अपने मन के अनुसार फल भोगे। यदि वह बुरा कर्म करेगा, तो बुरा फल बाध्य होकर उसको भोगना ही पड़ेगा। चाहे वह इस जन्म मे भोगे, चाहे पर-जन्म मे। ईश्वर जीव के कर्मों का साक्षी मात्र है। वह देखता रहता है कि इसने ऐसा कर्म किया, और जीव जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार ही वह उसको फल देता है। इससे ईश्वर न्यायकारी है जीव और ईश्वर का यह सम्बन्ध ऋग्वेद मे इस प्रकार बतलाया गया है :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

ऋग्वेद

यही मंत्र उपनिषदों में भी आया है। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर और जीव दोनो (पक्षी) 'सुपर्ण' अर्थात् चेतनता और पालनादि गुणो मे सदृश हैं। 'सयुजा' अर्थात् व्याप्य और व्यापक भाव मे संयुक्त हैं, 'सखाया' परस्पर सखाभाव से सनातन और अनादि है, और वैसी ही अनादि प्रकृतिरूप वृक्ष पर ये दोनों पक्षी बैठे हुए है, परन्तु उनमे से एक, अर्थात् जीव उस वृक्ष के पापपुण्यरूप फलो को भोगता है, और दूसरा (परमात्मा) उनको भोगता नही है किन्तु चारो ओर से भीतर बाहर प्रकाशमान हो रहा है। अर्थात् जीव के कर्म-फल भोग का साक्षी है। इस मंत्र मे ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनो की भिन्नता अलङ्कार रूप से स्पष्ट बतला दी गई है। गीता मे भी तीनों का इस प्रकार उल्लेख किया गया है :—

> द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
> क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
> उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
> यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

गीता, अ० १५

सम्पूर्ण सृष्टि मे दो शक्तियाँ है—एक परिवर्तनशील अर्थात् नाशवान् और दूसरा अविनाशी। नाशवान् मे तो सब भूत अर्थात् पञ्चभूतात्माक जड़ प्रकृति आ जाती है, और अविनाशी जीव कहलाता है। परन्तु इन दोनों से भी श्रेष्ठ एक शक्ति है, जो परमात्मा के नाम से जानी जाती है। वह अविनाशी ईश्वर

तीनों लोक मे व्याप्त होकर सब का भरण पोषण और पालन करता है।

जीव को यह ज्ञान होना चाहिये कि परमात्मा सब जगह व्याप्त होते हुये, हमारी आत्मा मे भी है, और यही ज्ञान सच्चा ज्ञान है। महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते है :—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् आत्मनोन्तरोयमयति शु त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

बृहदारण्यक

अर्थात् हे मैत्रेयि जो सर्वव्यापक ईश्वर आत्मा मे स्थिर है और उससे भिन्न हैं, (अर्थात् अज्ञान के कारण जिसको जीव भिन्न समझता है)—मूढ़ जीवात्मा नही जानता कि वह परमात्मा मुझमे व्यापक है। जिस प्रकार शरीर मे जीव व्यापक है, उसी प्रकार वह जीव मे व्यापक है—अर्थात् यह ही एक प्रकार से उसका शरीर है। वह परमात्मा इस जीवात्मा से भिन्न रहकर—अर्थात् इसमे न फँसता हुआ, इसके पापपुण्यों का साक्षी और फलदाता होकर जीवों को नियम मे रखता है। हे मैत्रेयि, वही अविनाशी स्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा है—अर्थात् तेरे भीतर भी वही व्याप्त हो रहा है। उसको तू जान।

यह जीव का स्वरूप और जीवात्मा से सम्बन्ध संक्षेप मे बतलाया गया।

सृष्टि

सृष्टि का वर्णन करने के पहले यह देखना चाहिये कि सृष्टि किन कारणो से उत्पन्न हुई है। जब कोई कार्य होता है, तब उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। कारण उसको कहते हैं, जिससे कोई

उत्पन्न होता है। कारण भी तीन प्रकार का है। एक निमित्त-कारण; दूसरा उपादान-कारण, तीसरा साधारण-निमित्त-कारण। निमित्त-कारण "करनेवाला" कहलाता है, और उपादान कारण वह कहलाता है कि जिस चीज से वह कार्य बने, और तीसरा साधारण निमित्त वह कहलाता है जिसके द्वारा बने। जैसे घड़ा बनाया गया। अब घड़ा तो कार्य हुआ, और जिसने घडा बनाया, वह कुम्हार निमित्त-कारण हुआ, और जिससे घड़ा बना वह मिट्टी उपादान कारण हुई, और जिसके द्वारा घडा बनाया गया, वह कुम्हार का दण्ड और चक्र इत्यादि साधारण-कारण हुआ। इसी प्रकार सृष्टि रचना, जो एक कार्य है, उसके भी तीन कारण हैं। एक मुख्य निमित्त कारण परमात्मा, जो प्रकृति (उपादान कारण) की सामग्री से सृष्टि को रचता, पालन करता और प्रलय करता है। दूसरा साधारण-निमित्त जीव जो परमेश्वर की सृष्टि मे से पदार्थों को लेकर अनेक प्रकार के कार्यान्तर करता है और तीसरा उपादान-कारण प्रकृति, जो स्वयं सृष्टि-रचना की सामग्री है। यह जड़ होने के कारण स्वय न बन सकती है, और न विगड़ सकती है। यह दूसरे के बनाने से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है।

इन तीन कारणो मे से दो कारणों, अर्थात् ईश्वर और जीव के संक्षिप्त स्वरूप का वर्णन पीछे हो चुका है। अब यहाँ तीसरे कारण—उपादान-कारण—प्रकृति का स्वरूप बतलाने के बाद सृष्टि के विषय मे लिखेगे। हम कह चुके हैं कि ईश्वर मे सत्—चित् —आनन्द, तीन लक्षण, है, जीव मे सिर्फ सत् और चित् दो ही है, आनन्द नहीं है। अब प्रकृति को देखिये, तो उसमे एक ही लक्षण, अर्थात् 'सत्' है। सत् का अर्थ बतला चुके हैं कि जो अनादि है, जो किसी से उत्पन्न नही हुआ, और जो सदैव बना रहेगा, कभी नष्ट न होगा। यह लक्षण प्रकृति मे भी है—यह

बन बिगड़ भले ही जाय किन्तु इसका अभाव कभी न होगा। रूपान्तर से रहेगी अवश्य। प्रलय हो जाने के बाद भी भगवान् कृष्ण श्री गीता मे यह कहते हैं:—

प्रकृतिं पुरुष चैव विद्ध्यनादी उभमवपि ॥
विकाराश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृतिसभवान् ।

गीता अ० १३

प्रकृति और पुरुष (जीव) दोनो को अनादि अर्थात् अविनाशी जानो। हॉ, सृष्टि मे जो विकार और गुण, अर्थात् तरह-तरह के रूपान्तर दिखाई देते है, वे प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। जीव रूपान्तरों मे फॅसा रहता है, परन्तु ईश्वर निर्लेप है :—

अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा बह्वीः प्रजा. सृजमाना स्वरूपा' ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुषेते जहात्येना भुक्त भोगामजोऽन्यः ॥

—श्वेताश्वतारोपनिषद्

एक अज (अनादि) त्रिगुणात्मक सृष्टि बहुत प्रकार से रूपान्तर को प्राप्त होती है। एक अज* (जीव) इसका भोग करता हुआ फॅसता है, और एक अन्य अज (ईश्वर) न फॅसता और न भोग करता है। अस्तु।

ईश्वर और जीव का लक्षण अलग-अलग बतला चुके है। अब यहॉ सृष्टि के तीसरे कारण प्रकृति का लक्षण बतलाते हैं—

सत्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृतिः।

—साख्यदर्शन

---

* जीव शरीर में आकर जन्म लेता और मरता है पर उसका नाश नहीं है, वह किसी से पैदा नहीं है, अनादि है, सत् + चित् है, इसलिए अज कहा।

उत्पन्न होता है। कारण भी तीन प्रकार का है। एक निमित्त-कारण; दूसरा उपादान-कारण, तीसरा साधारण-निमित्त-कारण। निमित्त-कारण "करनेवाला" कहलाता है, और उपादान कारण वह कहलाता है कि जिस चीज से वह कार्य बने, और तीसरा साधारण निमित्त वह कहलाता है जिसके द्वारा बने। जैसे घड़ा बनाया गया। अब घड़ा तो कार्य हुआ, और जिसने घड़ा बनाया, वह कुम्हार निमित्त-कारण हुआ, और जिससे घड़ा बना वह मिट्टी उपादान कारण हुई, और जिसके द्वारा घडा बनाया गया, वह कुम्हार का दण्ड और चक इत्यादि साधारण-कारण हुआ। इसी प्रकार सृष्टि रचना, जो एक कार्य है, उसके भी तीन कारण हैं। एक मुख्य निमित्त कारण परमात्मा, जो प्रकृति (उपादान कारण) की सामग्री से सृष्टि को रचता, पालन करता और प्रलय करता है। दूसरा साधारण-निमित्त जीव जो परमेश्वर की सृष्टि मे से पदार्थों को लेकर अनेक प्रकार के कार्यान्तर करता है और तीसरा उपादान-कारण प्रकृति, जो स्वयं सृष्टि-रचना की सामग्री है। यह जड़ होने के कारण स्वयं न बन सकती है, और न विगड़ सकती है। यह दूसरे के बनाने से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है।

इन तीन कारणो मे से दो कारणों, अर्थात् ईश्वर और जीव के संक्षिप्त स्वरूप का वर्णन पीछे हो चुका है। अब यहाँ तीसरे कारण—उपादान-कारण—प्रकृति का स्वरूप बतलाने के बाद सृष्टि के विषय मे लिखेगे। हम कह चुके हैं कि ईश्वर में सत्—चित् —आनन्द, तीन लक्षण, हैं, जीव मे सिर्फ सत् और चित् दो ही है, आनन्द नही है। अब प्रकृति को देखिये, तो उसमे एक ही लक्षण, अर्थात् 'सत्' है। सत् का अर्थ बतला चुके हैं कि जो अनादि है, जो किसी से उत्पन्न नही हुआ, और जो सदैव बना रहेगा, कभी नष्ट न होगा। यह लक्षण प्रकृति मे भी है—यह

बन बिगड़ भले ही जाय किन्तु इसका अभाव कभी न होगा। रूपान्तर से रहेगी अवश्य। प्रलय हो जाने के बाद भी भगवान् कृष्ण श्री गीता मे यह कहते हैं:—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्‌ध्यनादी उभावपि ॥
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ।

गीता अ० १३

प्रकृति और पुरुष (जीव) दोनों को अनादि अर्थात् अविनाशी जानो। हाँ, सृष्टि मे जो विकार और गुण, अर्थात् तरह-तरह के रूपान्तर दिखाई देते हैं, वे प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। जीव रूपान्तरों मे फँसा रहता है, परन्तु ईश्वर निर्लेप है :—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्त भोगामजोऽन्यः ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्

एक अज (अनादि) त्रिगुणात्मक सृष्टि बहुत प्रकार से रूपान्तर को प्राप्त होती है। एक अज* (जीव) इसका भोग करता हुआ फँसता है, और एक अन्य अज (ईश्वर) न फँसता और न भोग करता है। अस्तु।

ईश्वर और जीव का लक्षण अलग-अलग बतला चुके है। अब यहाँ सृष्टि के तीसरे कारण प्रकृति का लक्षण बतलाते हैं—

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।

—सांख्यदर्शन

---

* जीव शरीर में आकर जन्म लेता और मरता है पर उसका नाश नहीं है, वह किसी से पैदा नहीं है, अनादि है, सत् + चित् है, इसलिए अज कहा।

सत्व अर्थात् शुद्ध, रज अर्थात् मध्य और तम अर्थात् जड़ता, इन तीनों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं अर्थात् ये तीन वस्तुएँ मिलकर जो एक संघात है उसी का नाम प्रकृति है।

इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति, यही तीन इस जगत के कारण हैं। मुख्य निमित्त कारण ईश्वर है। उसी के ईक्षण या प्रेरणा से प्रकृति जगत् के आकार मे आती है। वही निराकार ईश्वर जो सूक्ष्म जीव और प्रकृति के अन्दर भी व्याप्त रहता है अपनी स्वाभाविक शक्ति, ज्ञान, बल और क्रिया से प्रकृति को स्थूलाकार मे लाता है। सृष्टि, उत्पत्ति के समय, प्रकृति से स्थूलाकार मे किस प्रकार आने लगती हैं :—

प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रिय पंचतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशति गणः।

—सांख्यशास्त्र

सृष्टि रचना की प्रथम अवस्था मे परम सूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से जो कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्व या बुद्धि है। उससे जो कुछ स्थूल होता है उसका नाम अहंकार है। अहंकार से भिन्न भिन्न पॉच सूक्ष्मभूत है। इन्ही को पंचतन्मात्रा कहते है। वह पांचो भूतो का—अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश का—शब्द, स्पर्श, रूप रस, गन्ध के रूप मे आभास मात्र रहता है। फिर अहंकार ही से पांच ज्ञानेन्द्रियॉ और पॉच कर्मेन्द्रियॉ, तथा ग्यारहवॉ मन भी होता है। ये सब इन्द्रियॉ भी आभासमात्र रहती हैं। ऐसी स्थूल नही रहती जैसी हम शरीर मे देखते हैं। अस्तु। फिर उपर्युक्त पंचतन्मात्राओं अर्थात् सूक्ष्म पञ्चभूतो से, अनेक स्थूलावस्थाओ को प्राप्त होते हुये ये स्थूल पञ्चभूतों मे उत्पन्न होते हैं, जिनको हम देखते हैं। स्थूल प्रकृति से लगाकर स्थूल भूतों तक ये सब चौबीस तत्व

हुए। पच्चीसवाँ पुरुष अर्थात् जीव है। इन्हीं सब को मिला कर ईश्वर ने इस स्थूल सृष्टि को रचा है।

अस्तु! स्थूल पञ्चमहाभूतों के उत्पन्न होने के बाद नाना प्रकार की औषधियाँ वृक्ष लता-गुल्मादि, फिर उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है। पहले जो शरीर निर्माण होते है, उनमे ऋषियो की आत्मा प्रविष्ट होती है। ये अमैथुनी सृष्टि से उत्पन्न होते हैं। परमात्मा अपना ज्ञान, 'वेद' इन्हीं के द्वारा सम्पूर्ण मनुष्य जाति के लिये प्रकट करता है। फिर क्रमशः अन्य स्त्री-पुरुषों के उत्पन्न होने पर मैथुनी सृष्टि चलती है। यह भूलोक की उत्पत्ति का वर्णन है। इसी प्रकार परमात्मा अन्य सब लोको की सृष्टि करता है :—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिव च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

ऋग्वेद

अर्थात् परमात्मा जिस प्रकार के कल्प-कल्प मे सूर्य, चन्द्र, द्यौ, भूमि अन्तरिक्ष, और उनमे रहनेवाले पदार्थों को रचता आया है, वैसे ही सृष्टि-रचना मे भी रचे हैं। इस प्रकार यह सृष्टि प्रवाह से अनादि है। अनादिकाल से ऐसी ही बनती, बिगड़ती, उत्पन्न होती और प्रलय होती हुई चली आती है। परमात्मा किस प्रकार से सृष्टि को दृश्य आकार मे लाता है, इसका एक बहुत सुन्दर दृष्टान्त मुण्डकोपनिषद् मे दिया है :—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च।

मुण्डक

अर्थात् जैसे मकड़ी अपने अन्दर से ही तन्तु निकाल कर जाला तनती है, और स्वयं उसमे खेलती है, और उसको समेट भी लेती है, उसी प्रकार परमात्मा इस जगत् को प्रकट करके

इसमे खेल रहा। इसका तात्पर्य यही है कि अन्दर प्रकृति और जीव व्यापकरूप से पहले से ही वर्त्तमान रहते हैं, और जब ईश्वर सृष्टि की रचना करना चाहता है, तब अपने सामर्थ्य से उनको स्थूलरूप मे लाता है, और आप फिर सम्पूर्ण सृष्टि मे भीतर बाहर व्यापक रहता है सब का भरण-पोषण पालन और नियमन करता है, और फिर कल्प के अन्त मे अपने अन्दर विलीन कर लेता है :—

> सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
> कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
>
> गीता, अ० ६।

अर्थात् कल्प के नाश होने पर, प्रलय होने पर, सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा मे लीन हो जाता है, और कल्प के आदि मे अर्थात् जब फिर सृष्टि रचना होती है, तब फिर ईश्वर सब को उत्पन्न करता है। ऐसा ही चक्कर लगा रहता है। यह सिलसिला कभी बन्द नहीं होता। अब प्रश्न यह होता है कि जब एक बार सृष्टि-संहार हो गया, तब से लेकर और जब तक फिर सृष्टि नहीं रची जाती, तब तक क्या हालत रहती है ? मनु भगवान् इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं :—

> आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
> अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
>
> मनु०

सृष्टि के पहले सम्पूर्ण विश्व अन्धकार से आच्छादित था, और प्रलय के बाद भी वैसा ही हो जाता है। उस समय इसकी जो हालत रहती है, वह जानी नहीं जा सकती। उसका कोई लक्षण नही दिया जा सकता, और न अनुमान किया जा सकता है। चारो ओर सुम् गुम् प्रसुप्त अवस्था सो रहती है। अन्धकार

भी ऐसा नहीं रहता जैसा हमे इन आँखों से दिखाई देता है। बल्कि वह एक विलक्षण दशा रहती है। एक परमात्मा और उसमे व्याप्य व्यापक भाव से प्रकृति और जीव रहते हैं और किसी प्रकार का आभास, जिसकी हम कल्पना कर सकते है, उस समय नहीं रहता।

इस पर एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि ईश्वर सृष्टि की रचना न करे, तो उसका सामर्थ्य सब जीवों पर कैसे प्रकट हो, और जीव जो पाप-पुण्य के बन्धन मे सदैव काल से बँधे रहते हैं, उनको कर्मों का भोग करने के लिये भी कोई मौका न मिले, वे सदैव सोते हुए ही पड़े रहे। बहुत से पवित्र आत्मा मुक्ति का साधन करके मोक्ष का आनन्द ले सकते हैं। सो यह आनन्द भी सृष्टि-रचना के बिना उनको नही मिल सकता। परमेश्वर मे जो ज्ञान, बल और क्रियाशक्ति स्वाभाविक ही है, उसका उपयोग वह सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति, प्रलय व्यवस्था में ही कर सकता है। इतनी ही बात मे तो परमात्मा परतन्त्र है। अपने नियमो मे वह भी बँधा हुआ है। सृष्टि रचना से ही परमात्मा का सामर्थ्य और कला कौशल प्रकट होता है। एक शरीर-रचना को ही ले लीजिये। भीतर हड्डियों के जोड़ नाड़ियों का बन्धन, मांस का लेपन, चमड़ी का ढक्कन, प्लीहा यकृत, फेफड़ा, हृदय की गति, जीव की संयोजना, सिर का सारे शरीर की नाड़ियों से विलक्षण सम्बन्ध, रोम नख, इत्यादि की स्थापना आंख की अत्यन्त सूक्ष्म नस के तार के समान ग्रन्थन, इन्द्रियों के मार्गों का प्रकाशन जीव की जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, इत्यादि अवस्थाओं के भोगने का प्रबन्ध, शरीर की सब धातुओं का विभाजीकरण इत्यादि ऐसी बातें हैं जिनका सिर्फ तनिक विचार करने से ही परमात्मा के कला-कौशल पर आश्चर्यचकित होना पडता है।

इसी प्रकार से और सम्पूर्ण सृष्टि को देख लीजिये। नाना प्रकार के रत्नों और चमकीली धातुओं से परिपूर्ण भूमि, विविध प्रकार के बटवृक्ष के समान सूक्ष्म बीजों से अनोखी रचना, हरित श्वेत, पीत, कृष्ण, इत्यादि चित्रविचित्र रंगों से युक्त पत्र, पुष्प, फल, फूल, मूल, इत्यादि की रचना, फिर उनमे सुगन्धित की संयोजना, मिष्ठ, क्षार, कटु, कषाय, तिक्त, अम्ल, इत्यादि छै रसों का निर्माण, पृथ्वी चन्द्र, सूर्य नक्षत्र, इत्यादि अनेक गोलों का निर्माण, उनकी नियमित गतिविधि, आदि सब बातों से परमेश्वर की अद्भुत सत्ता प्रकट होती है।

नास्तिक लोग कहते हैं कि यह तो सब प्रकृति का गुण है। परन्तु प्रकृति जड़ है उसमें चैतन्य शक्ति नही। आप से आप वह यह सब रचना नही कर सकती। परमेश्वर के ईक्षण या उसकी प्रेरक शक्ति से ही यह सब अजीब सृष्टि हुई है, होती रहती है और ऐसी ही होती जायगी। इस सुन्दर सृष्टि के निर्माण कौशल से ही इसके निर्माता की शक्ति का पता चलता है, और आस्तिक ईश्वर-भक्त इसको देखकर, उसकी अनुपम सत्ता का अनुभव करके, उसकी शक्ति मे मग्न हो जाता है। वेद कहते है :—

> इय विसृष्ठियत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमेव्योमन्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।
>
> —ऋग्वेद

हे अङ्ग, जिससे यह नाना प्रकार की सृष्टि प्रकाशित हुई है, और जो इसका धारण और प्रलय करता है, जो इसका अध्यक्ष है, और जिस व्यापक मे यह सब जगत उत्पत्ति, स्थिति और लय को प्राप्त होता है वही परमात्मा है, उसको तुम जानो, और दूसरे किसी को (जड़ प्रकृति आदि को) सृष्टिकर्त्ता मत मानो। उपनिषद् भी यही कहते है :—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति तद्वि जिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ।

—तैत्तिरीयोपनिषद्

जिस परमात्मा से यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है, जिसमे यह जीवित रहता है, और जिसमे फिर लय को प्राप्त हो जाती है, वही पार ब्रह्म परमात्मा है । उसको जानने की इच्छा करो ।

पुनर्जन्म

जीव अविनाशी और चेतन होने पर भी इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख, ज्ञान इत्यादि के वश कर्मों मे फँसा रहता है, और कर्म ही उसके पुनर्जन्म के कारण होते हैं । कर्म का लक्षण गीता मे इस प्रकार दिया है :—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसज्ञितः ॥

गीता, अ० ८

प्राणियों की सत्ता को उत्पन्न करने वाली विशेष रचना को कर्म कहते हैं । कर्म त्रिगुणात्मक, प्रकृति से उत्पन्न होता है, और प्रकृति मे फँसकर ही जीव कर्म करता हुआ बन्धन मे प्राप्त होता है, और उत्तम, मध्यम, नीच योनि मे जाता है :—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारण गुणसगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

गीता, अ० १३-२१

प्रकृति मे ठहरा हुआ जीव प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सत्व, रज, तम गुणो का भोग करता है, और इन गुणों का संग ही उसके ऊँच-नीच योनि मे जन्म होने का कारण है :—

सत्व रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥

गीता, अ० १४-५

सत्व, रज, तम ये प्रकृति से उत्पन्न होने वाले तीनों गुण ही इस अविनाशी जीवात्मा को देह मे बाँधते हैं, अर्थात् बार-बार जन्म लेने को बाध्य करते हैं। इससे सिद्ध है जो मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही जन्म पाता है :—

देवत्व सात्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः ।
तिर्यक्त्व तामसा नित्यमित्येपा त्रिविधा गति ॥:

मनु०, अ० १२-४०

सतोगुणी कर्म करने वाले देवत्व को पाते हैं, अर्थात् ज्ञान के साथ उत्तम सुख को भोग करते हैं। रजोगुणी कर्म करने वाले मनुष्यत्व को पाते है, अर्थात् रागद्वेष के साथ सुख-दुख का भोग करते है तथा जो तमोगुणी कर्म करते हैं, वे मनुष्येतर वृक्ष, पशु पक्षी, कीट पतंगादि नीच योनियों मे जाते हैं। इसी प्रकार जीव को कर्मानुसार सुख-दुख प्राप्त होता है।

संसार मे देखा जाता है कि कोई मनुष्य विद्वान्, धनी और सुखी है, और कोई मूर्ख, दरिद्री और दुखी है। यह सब उसके पूर्वजन्म के पाप-पुण्य-कर्मानुसार उसको सुख-दुख मिला है, और इस जन्म मे जैसा वह कर रहा है, उसके अनुसार उसको अगले-जन्म मे फल मिलेगा। फिर भी कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका फल जीव को इसी जन्म मे मिल जाता है, और कुछ कर्म ऐसे होते है जिनका फल हमको इस जन्म मे कुछ भी दिखाई नही देता, और कुछ कर्म ऐसे है कि जिनको हम प्रत्यक्ष कुछ नही कर रहे हैं, और अनायास हमको फल मिल रहा है। इस प्रकार जीव के कर्म के तीन भेद किये गये हैं :—

संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। संचित कर्म वे हैं जो पूर्वजन्मो के किये हुये हैं, और उनके संस्कार बीजरूप से जीव के साथ रहते है। प्रारब्ध वह है जिसको जीव इस जन्म मे अपने साथ भोगने के लिये ले आता है, और उस प्रारब्ध में जिस भाग को वह इस जन्म मे भोगने लगता है, उसको क्रियमाण कहते है। इससे जान पडता है कि जीव के साथ कर्म का सिलसिला लगा ही रहता है, और जब तक ज्ञान से उसके कर्मों का भोग न मिट जावे, और जब तक वह बिलकुल वासना रहित न हो जावे, तब तक उसको बार बार जन्म लेना पड़ेगा।

यह ध्यान मे रहे कि कर्मयोनि मे मनुष्य ही का जन्म है, और मनुष्येतर पशु-पक्षी इत्यादि जो चौरासी लाख योनियाँ हैं वे सब भोग योनियाँ हैं। उन योनियो मे जीव को ज्ञान नहीं रहता। सिर्फ पूर्वकृत पापकर्मों का वह भोग करता है। फिर जब मनुष्य योनि मे आता है, तब उसके साथ ज्ञान और विवेक होता है, जिसके द्वारा वह भले बुरे कर्मों का ज्ञान और करके भले कर्मों के द्वारा उत्तम गति और बुरे कर्मों के द्वारा अधम गति प्राप्त करने मे स्वतन्त्र हो जाता है। जिस मार्ग से जाने की उसकी इच्छा हो, वह जावे। इसीलिए कहते है कि जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र और उसका फल भोगने मे परतन्त्र है।

मनुष्य का जीव हो, और चाहे पशु-पक्षी का जीव हो—जीव सब का एक सा है। अन्तर केवल इतना है कि एक जीव पाप-कर्मों के कारण मलीन और दूसरा पुण्यकर्मों के कारण पवित्र होता है। मनुष्य शरीर मे जीव पाप अधिक करता है, और पुण्य कम करता है, तब वह पशु आदि नीच शरीरो मे जाता, और जब पुण्य अधिक और पाप कम होता है, तब और जब पाप-पुण्य बराबर होता है तब साधारण मनुष्य का शरीर

मिलता है। इसी प्रकार स्त्री-जन्म पाकर यदि जीव पुरुषोचित उत्तम पुण्यकर्म करता है, तो स्त्रीयोनि से पुरुषयोनि भी पाता है।

पापपुण्य-कर्मों मे भी उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणियाँ हैं। कोई पुण्यकर्म उत्तम श्रेणी का होता है, कोई मध्यम या नीच श्रेणी का। इस प्रकार पाप की भी तीन कोटियाँ है। इन्हीं कोटियों के अनुसार मनुष्यादि मे उत्तम-माध्यम-निकृष्ट शरीर मिलता है। कर्मानुसार जन्म के अनेक भेद शास्त्रों मे बतलाये गये हैं।

जब जीव का इस स्थूल शरीर से संयोग होता है, तब इसको जन्म कहते हैं, जब इससे जीव का वियोग हो जाता है, तब उसको मृत्यु कहते हैं। इस स्थूल शरीर को छोड़ने के बाद जीव सूक्ष्म शरीर से वायु मे रहता है, और अपनी मृत्यु समय की तीव्र भावना के अनुसार जहाँ चाहता है, वहाँ जाता-आता रहता है। फिर, कुछ समय बाद धर्मराज परमात्मा उसके पापपुण्य के अनुसार उसको जन्म देता है। जन्म लेने के लिये वह वायु, अन्न, जल, अथवा शरीर के छिद्र-द्वारा दूसरे शरीर में, ईश्वर की प्रेरणा से वह प्रवृष्ट होता है, और फिर क्रमशः वीर्य मे जाकर, गर्भ मे स्थित हो, शरीर धारण करके बाहर आता है।

जीवात्मा के चार शरीर होते है। (१) स्थूल शरीर— जिसको हम देखते हैं, (२) सूक्ष्म शरीर—यह शरीर पॉच प्राण, पॉच ज्ञानेन्द्रिय, पॉच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि, इन सत्रह तत्वो का समुदाय रूप होता है। यह शरीर मृत्यु के बाद भी जीव के साथ रहता है, (३) कारण शरीर—इसमे सुषुप्ति, अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है यह शरीर प्रकृतिरूप होने के कारण सर्वत्र विभु (व्यापक) और सब जीवो के लिए एक माना गया है, (४) तुरीय शरीर—इसी शरीर के द्वारा जीव समाधि से परमात्मा के

आनन्दस्वरूप मे मग्न होता है। इस जन्म मे जीवनमुक्त पुरुष इसी शरीर के द्वारा ब्रह्मानन्द का भोग करते हैं, और शरीर छोड़ने पर भी परमात्मा मे लीन रहते है। सब असत्कर्मों का त्याग करके और शुद्ध दिव्य कर्मों को धारण करके मनुष्य उक्त शरीर की अवस्था का विकास अपने अन्दर करता है और जन्म-मरण से छुटकारा पाकर निर्वाण पदवी प्राप्त करता है। वहाँ पर सांसारिक सुख-दुख नहीं है, एक ऐसे दिव्य आनन्द का अनुभव है जो बतलाया नही जा सकता।

मोक्ष

मोक्ष या मुक्ति छूट जाने को कहते हैं जीवात्मा को जन्म-मरण आदि के चक्र मे पड़ने से जो तीन प्रकार के दुःख होते हैं, उनसे छूटकर अखण्ड ब्रह्मानन्द का भोग करना ही मोक्ष प्राप्ति कहलाता है। भगवान् कपिल मुनि अपने सांख्यशास्त्र मे कहते हैं :—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।

सांख्यदर्शन

तीन प्रकार के दु.खो से बिलकुल ही निवृत्त हो जाना, यह जीव का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। तीन प्रकार के दुःख कौन हैं ?

(१) आध्यात्मिक दुःख—जो शरीर-सम्बन्धी दुःख अपने अन्दर से ही उत्पन्न होते हैं, (२) आधिभौतिक दुःख—जो दूसरे प्राणियो या बाहर के अन्य पदार्थों से जीव को दुःख मिलता है, (३) आधिदैविक—अतिवृष्टि, अतिताप, अतिशीत, इत्यादि दैविक कारणो से, मन और इन्द्रियों की चंचलता के कारण, जीव जो दुःख पाता है, उसको आधिदैविक दुःख कहते हैं। इन सब दुःखों के छूट जाने का नाम मोक्ष है।

मोक्ष किस प्रकार से प्राप्त हो सकता है ? मोक्ष ज्ञान से ही मिल सकता है। सृष्टि से लेकर परमात्मा तक सब का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके धर्माचरण करना और अधर्म को छोड़ देना—यही मुक्ति का उपाय है। परमात्मा, जीवात्मा के अन्दर बैठा हुआ, मनुष्य को सदैव धर्म की ओर प्रवृत्त और अधर्म की ओर से निवृत्त किया करता है, परन्तु अज्ञान जीव उसकी प्रेरणा को नही सुनता है, और अधर्म मे फॅस कर जन्म मृत्यु के दुःखों मे फॅसता है। देखिये, जब कोई मनुष्य धर्मयुक्त कर्मों को करना चाहता है, तब अन्दर से उसको स्वाभाविक ही आनन्द, उत्साह, उमंग, निर्भयता इत्यादि का अनुभव होता हैं, और जब बुरा कर्म करना चाहता है, तब एक प्रकार का भय, लज्जा, संकोच मालूम होता है। ये परस्पर-विपरीत भावनाएँ जीव के अन्दर ईश्वर ही उठाता है, परन्तु जीव उनकी परवा न करके, अज्ञान से और का और करता और दु.ख भोगता है। इसलिए क्षण-क्षण पर अपनी आत्मा के अन्दर परमात्मा की आज्ञा सुनकर संसार मे धर्म कार्य करते रहने से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

जितने भी धर्म के कार्य हैं, उनको गीता मे दैवी सम्पत्ति कहा गया है :—

> अभय सत्वसशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
> दान दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्। १।
> अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
> दया भूतेष्वलोलुप्त्व मार्दव ह्रीरचापलम् ॥२॥
> तेजः क्षमा धृति. शौचमद्रोहो नातिमानिता।
> भवन्ति सम्पद दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥
>
> गीता अ० १६

१ अभय, अर्थात् धर्म के कार्यों मे कभी किसी से नहीं

करना। २ सत्वसंशुद्धि, अर्थात् जीवन को शुद्ध मार्ग मे ही करना। ३ ज्ञानयोग-व्यवस्थिति अर्थात् परमात्मा सृष्टि के ज्ञान का यथार्थ विचार सदैव करते रहना। ४ दान, विद्यादान, अभय-दान इत्यादि वस्तुएँ सदैव दीन हीनों को करते रहना, जिनसे उनका कल्याण हो। ५ दम, मनको इन्द्रियों के अधीन न होने देना। ६ यज्ञ, अपने और संसार के कल्याण के कार्य सदैव करते रहना। ७ स्वाध्याय, धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करके अपनी बुराइयों को सदैव दूर करते रहना। ८ तप, सत्कार्य मे शरीर मन, वाणी का उपयोग करना और उसमे कष्ट सहते हुये न घबड़ाना। ९ आर्जव, सदैव सरल बर्ताव करना—मन, वाणी और आचरण एक सा रखना। १० अहिंसा, किसी प्राणी को किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाना। ११ सत्य, ईश्वर की आज्ञा के अनुसार मन, वचन, कर्म से चलना। १२ अक्रोध, अपने या दूसरे पर कभी क्रोध न करना। १३ त्याग, दुर्गुणो को छोड़ना और अपने सद्गुणों का संसार के हित मे उपयोग करना। १४ शान्ति, दुःख-सुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, निन्दा-स्तुति, यश-अपयश, इत्यादि मे चित्त की समानता को स्थिर रखना। १५ अपैशून्य, किसी की निन्दा-स्तुति अनुचित रूप से न करना। १६ भूतदया, सब प्राणियों पर बराबर दया करना। १७ आलोलुपता, किसी लालच मे न पड़ना। १८ मार्दव, सदैव मधुरता कोमलता धारण करना। १९ ह्री, लज्जा-मर्यादा को कभी न छोड़ना। २० अचपलता, चञ्चलता न करना, विवेक, गम्भीरता धारण करना। २१ तेज—दुष्टता और दुष्टो का दमन करना, २२ क्षमा, मौका देखकर दूसरों के छोटे-बड़े अपराधों को सहन करते रहना। २३ धृति, धर्म कार्यों मे विघ्न और कष्ट आवे, तो भी धैर्य न छोड़ते हुये उनको पूर्ण करना २४ शौच, मन और शरीर इत्यादि पवित्र रखना। २५ अद्रोह, किसी से वैर न बाँधना।

२६ अतिमानिता, अर्थात् बहुत अभिमान न करना, परन्तु आत्माभिमान न छोड़ना। ये २६ गुण ऐसे पुरुष मे होते हैं, जो दैवी सम्पत्ति मे उत्पन्न हुआ है।

अब आसुरी सम्पत्ति सुनिये :—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञान चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ ४॥

गीता, अ० ८६

(१) दम्भ, झूठा आडम्बर, कपट छल धारण करना, (२) दर्प, गर्व, मद या व्यर्थ की तेजस्विता दिखलाना, जिसको बन्दर घुड़की कहते हैं, (३) अभिमान, घमण्ड, अकड़बाजी दिखलाना; (४) क्रोध, (५) कठोरता, (६) अज्ञान, यथार्थ ज्ञान न होना, इत्यादि आसुरी सम्पत्ति के लक्षण हैं।

इन आसुरी सम्पत्ति के लक्षणों को छोड़ने और दैवी सम्पति का अपने जीवन मे अभ्यास करने से ही मोक्ष मिल सकता है :—

दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

गीता, अ० १६

दैवी संपत्ति मोक्ष का और आसुरी सम्पत्ति बन्धन का कारण मानी गई है। इसलिये दैवी सम्पत्ति का अभ्यास कर के जो योगाभ्यास अथवा ईश्वर की भक्ति के द्वारा परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके उसमे स्थित होता है, वह मोक्ष को पाता है यदि इसी जन्म मे ऐसा अभ्यास करले, और इसी शरीर के रहते हुए सांसारिक सुखदुखों से छूटकर परमात्मा मे मग्न रहे तो उसको जीवन्मुक्त कहते है :—

शक्नोतीहैव य सोढु प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेग स युक्तः स सुखी नरः॥

योऽन्तःसुखोन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मनः सर्वभूतहिते रताः ॥

गीता, अ० ५

जो पुरुष इस संसार मे, शरीर छूटने के पहले ही, काम और क्रोध से उत्पन्न हुये वेग को सह सकता है, वही योगी और वही सुखी है। जो अपने अन्दर ही सुख मानता है, और उसी मे रमता है, तथा आत्मा के अन्दर जो प्रकाश है, उसी से जो प्रकाशित है वह ब्रह्म को प्राप्त होकर उसी मे लीन होता है। जिनके पाप सत्कर्मों से क्षीण हो चुके हैं, जिन्होंने सब द्विविधाओ को छोड़ दिया है, अपने आपको जीत लिया है, सम्पूर्ण ससार के उपकार मे रहते है, वही ऋषि मोक्ष पाते है।

ऐसे जो जीवन्मुक्त हो चुके हैं, उनका शरीर चाहे बना रहे, चाहे छूट जाय, वे दोनों दशाओ मे ब्रह्मानन्द मे लीन हैं। जब उनका शरीर छूट जाता है, तब भी उनके साथ जीव की स्वाभाविक शक्ति विद्यमान रहती है। इसी का नाम परम गति है:—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न चेष्टेत तामाहुः परमा गतिम् ॥

कठोपनिषद्

जब मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी चञ्चलता छोड़ देती हैं; और बुद्धि का निश्चय भी स्थिर हो जाता है, तब उस दशा को परम गति अर्थात् मोक्ष कहते है।

यों देखने मे तो जीव किसी एक जन्म मे मोक्ष प्राप्त करता

है, परन्तु यह एक जन्म का काम नहीं है। अनेक पूर्वजन्मों से मोक्ष के लिये जिसको अभ्यास होता आता है, वही किसी जन्म मे मोक्ष प्राप्त करता है। एक जन्म से पुण्य कर्म करते-करते जब जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, तब दूसरे जन्म मे फिर वह उसी कार्य को शुरू करता है, और इस प्रकार धर्माचरण का प्रयत्न करते हुए अनेक जन्मों मे उसको मोक्षसिद्धि होती है :—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् ॥
गीता, अ० ६

बहुत यत्न के साथ जब साधन करता है तब योगी जिसके पाप कट गये है, अनेक जन्म के बाद, सिद्धि प्राप्त करता हुआ परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होता है। उपनिषद् भी यही कहती है :—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पराऽवरे ॥
मुण्डकोपनिषद् ।

जब इस जीव के हृदय की अविद्या, या अज्ञानरूपी गाँठ, कट जाती है, और तत्वज्ञान से इसके सब संशय भिन्न हो जाते हैं, तथा जितने दुष्ट कर्म हैं, सब जिस समय क्षय हो जाते है, उस समय जीव उस परमात्मा को, जो आत्मा के भीतर-बाहर व्याप्त हो रहा है, देखता है। यही उसकी मुक्ति की दशा है। मुक्ति की दशा मे जीव स्वतन्त्र होकर परमात्मा मे वास करता है, और इच्छानुसार सब लोकों मे घूम सकता है, तथा सब कामनाओं का भोग करता है :—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ॥

तैत्तिरीयोपनिषद्

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा मे स्थित सत्य, ज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप परमात्मा को जानता है, वह उस व्यापक रूप ब्रह्म मे स्थित होकर उस 'विपश्चित्' अर्थात् अनन्त विद्या-युक्त, ब्रह्म के साथ सब कामनाओं को प्राप्त होता है, अर्थात् जिस आनन्द की कामना करता है, उस आनन्द को पाता है।

मनुष्य-जन्म का यही परम पुरुषार्थ है।

छठवाँ खण्ड

सूक्ति-संचय

"वाग्भूषणं भूषणम्"

—राजर्षि भर्तृहरि

विद्या

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम् ।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिम्
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥१॥

विद्या माता की तरह रक्षा करती है, पिता की तरह हित के कामो मे लगाती है, स्त्री की तरह खेद को दूर कर के मनोरंजन करती है, धन को प्राप्त कराकर चारों ओर यश फैलाती है। विद्याकल्पलता के समान क्या क्या सिद्ध नहीं करती ? अर्थात् सब कुछ करती है ॥१॥

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥२॥

रूप और यौवन से सम्पन्न तथा ऊँचे कुल मे उत्पन्न हुआ पुरुष बिना विद्या के निर्गन्ध पलास-पुष्प की भाँति शोभा नही देता ॥२॥

यः पठति लिखति पश्यति परिपृच्छति पण्डितानुपाश्रयति ।
तस्य दिवाकरकिरणैर्नलिनीदलमिव विकास्यते बुद्धिः ॥३॥

जो पढ़ता है, लिखता है, देखता है, पूछता है, पण्डितों का साथ करता है, उसकी बुद्धि का इस प्रकार विकास होता है जैसे सूर्य की किरणों से कमल ॥३॥

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्वला,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः ।

वाण्येका समलङ्करोति पुरुष या सस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सतत वाग्भूषण भूषणम् ॥४॥

जोशन-बज्जुल्ला अथवा रत्नों के उज्ज्वल हार इत्यादि पहनने से मनुष्य की शोभा नहीं, और न स्नान, चन्दन, पुष्प और बाल सॅवारने से ही उसकी कुछ शोभा है—वास्तव मे मनुष्य की शोभा सुन्दर और सुशिक्षित वाणी से ही है। अन्य सब आभूषण क्षीण हो जाते हैं। एक वाणी ही ऐसा भूषण है जो सच्चा भूषण है ॥४॥

सत्संगति

जाड्य धियो हरति सिंचति वाचि सत्य,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्सगतिः कथय कि न करोति पु साम् ॥ १ ॥

सत्संगति बुद्धि की जड़ता को हर लेती है, वाणी को सत्य से सीचती है, मान को बढ़ाती है, पाप को हटाती हैं, चित्त को प्रसन्न करती है, यश को फैलाती है। कहो, सत्संगति मनुष्य के लिये क्या क्या नही करती ॥१॥

सज्जनसगो मा भूद्यदि सगो माऽस्तु तत्पुनः स्नेहः।
स्नेहा:यदि मा विरहो यदि विरहो माऽस्तु जीवितस्याशा ॥ २ ॥

सज्जन का संग न हो। यदि संग हो तो फिर स्नेह न हो। यदि स्नेह हो, तो फिर विरह न हो और यदि विरह हो, तो फिर जीवन की आशा न हो ॥२॥

वशभवो गुणवानपि सगविशेषेण पूज्यन्ते पुरुषाः।
नहि तुम्बीफलविकलो वीणादण्डः प्रयाति महिमानम् ॥ ३ ॥

कुलीन और गुणवान् होने पर भी संग-विशेष से ही मनुष्य का आदर होता है। देखो तूम्बीफल के बिना वीणादण्ड की कोई महिमा नहीं होती ॥३॥

रे जीव सत्सगमवाप्नुहि त्वमसत्प्रसग त्वरया विहाय।
धन्योऽपि निन्दा लभते कुसगात् सिन्दूरबिन्दुर्विधवाललाटे ॥४॥

रे जीव, तू बुरी संगति छोड़कर शीघ्र ही सत्संगति को ग्रहण कर, क्योंकि बुरी संगति से भला आदमी भी निन्दित होता है—जैसे विधवा के मस्तक मे सिन्दूर का विन्दु ॥४॥

भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन सत्सगम च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकारनाश विधाय हि तदोदयते विवेकः ॥५॥

जब मनुष्य का अनेक जन्मों का भाग्य उदय होता है, तब उसको सत्संगति प्राप्त होती है; और सत्संगति के प्राप्त होने से जब उसका अज्ञानजन्य मोह और मद का अन्धकार नाश हो जाता है, तब विवेक का उदय होता है ॥५॥

सन्तोष

सर्पाः पिबन्ति पवन न च दुर्बलास्ते
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति।
कन्दैः फलैर्मुनिवराः क्षपयन्ति काल
सन्तोष एव पुरुषस्य पर निधानम् ॥१॥

सर्प लोग हवा पीकर रहते है, तथापि वे दुर्वल नही है। जंगल के हाथी सूखे तृण खाकर रहते है, फिर भी वे बली होते हैं। मुनिवर लोग कन्द मूल फल खाकर ही कालक्षेप करते हैं। सन्तोष ही मनुष्य का परम धन है ॥१।

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्व दुकूलैः
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः।

स हि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला ।
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्रः ॥२॥

हम छाल के कपड़े पहन कर ही सन्तुष्ट हैं. तुम सुन्दर रेशमी वस्त्र पहनते हो। दोनो मे सन्तोष बराबर ही है कोई विशेषता नहीं। वास्तव मे दरिद्र वही है, जिसमे भारी तृष्णा है। जहाँ मन सन्तुष्ट है, वहाँ कौन धनवान् है कौन दरिद्र है ॥ २॥

अर्थी करोति दैन्य लब्धार्थो गर्वपरितोषम् ।
नष्टधनश्च स शाक सुखमास्ते निःस्पृहः पुरुषः ॥३॥

धन की इच्छा करने वाला दीनता दिखलाता है; जो धन कमा लेता है, वह शोक करता है, इसलिये जो निस्पृह है, सन्तोषी है वही सुख मे रहता है ॥३॥

अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमयाः दिशाः ॥४॥

जो किञ्चन है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसका हृदय शान्त है, चित्त स्थिर है, मन सदैव सन्तुष्ट है, उसको सम्पूर्ण दिशाएँ सुखमय हैं ।४॥

साधुवृत्ति

छिन्नोऽपि चन्दनतरुर्न जहाति गन्धम् ।
वृद्धोऽपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम् ।
यन्त्रार्पितो मधुरता न जहाति चेक्षुः
क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान् कुलीनः ॥१॥

चन्दन वृक्ष काटा हुआ भी गन्ध को नहीं छोड़ता, गजेन्द्र वृद्ध होने पर भी क्रीड़ा नही छोड़ता, ईख कोल्हू मे देने पर भी मिठास नहीं छोड़ता। कुलीन पुरुष क्षीण हो जाने पर भी अपने शीलगुणों को नहीं छोड़ता ॥१॥

विद्याविलासमनसो धृतशीलशीलाः
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः ।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः ॥२॥

जिनका मन विद्या के विलास मे तत्पर रहता है, जो शीतलस्वभावयुक्त हैं, सत्य ही जिनका व्रत है, जो अभिमान से रहित हैं, जो दूसरों के दोषों को भी दूर करने वाले हैं, संसार के दुखों का नाश करना जिनका भूषण है—इस प्रकार जो परोपकार के कार्यों मे ही लगे रहते हैं, उन मनुष्यों को धन्य है ॥२॥

उदयति यदि भानु. पश्चिमे दिग्विभागे
प्रचलति यदि मेरु शीतता याति वह्निः ।
विकसति यदि पद्मम् पर्वताग्रे शिलायाम्
न भवति पुनरुक्त भाषित सज्जनानाम् ॥३॥

चाहे सूर्य पूर्व को छोड़कर पश्चिम दिशा की ओर उदय हो, चाहे सुमेरु पर्वत अपने स्थान से टल जाय चाहे आग शीतलता को धारण कर ले, और चाहे पर्वत की शिलाओं मे कमल फूलने लगे, पर सज्जनो का वचन नहीं बदल सकता ॥३॥

वदन प्रसादसदन सदय हृदय सुधामुचो वाचः ।
करण परोपकरण येषां न ते वन्द्या ॥४॥

जो सदैव प्रसन्नवदन रहते हैं, जिनका हृदय दया से पूर्ण है, जिनकी वाणी से अमृत टपकता है जो नित्य परोपकार किया करते हैं—ऐसे मनुष्य किसको वन्दनीय नहीं हैं ? ॥४॥

सपदि विलयमेतु राजलक्ष्मीरुपरि पतन्त्वथवा कृपाणधाराः
अपहरतुतरां शिर· कृतान्तो मम तु मतिर्न मनागपेतु धर्मात् ॥५॥

चाहे अभी मेरा राज्य चला जाय, अथवा ऊपर से तलवारों की धारे बरसे, मेरा शिर अभी काल के हवाले हो जाय, परन्तु मेरी मति धर्म से न पलटे ॥५॥

श्रोत्र श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्न तु कंकणेन ।
विभाति कायः करुणापराणा परोकारैर्न तु चन्दनेन ॥६॥

कान शास्त्रों के सुनने से शोभा पाते है, कुण्डल पहनने से नही । हाथ दान से सुशोभित होते है, कङ्कण से नही । दयाशील पुरुषो के शरीर की शोभा परोपकार से है, चन्दन से नही ॥६॥

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसन श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिद हि महात्मनाम् ॥७॥

विपत्ति मे धैर्य, ऐश्वर्य मे क्षमा, सभा मे वचन चातुरी, युद्ध मे वीरता, यश मे प्रीति, विद्या मे व्यसन—ये बाते महात्माओं मे स्वाभाविक ही होती हैं ॥७॥

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता ।
मुखे सत्या वाणी विजियि भुजवोर्वीर्यमतुलम् ॥
हृदि स्वच्छा वृत्तिः श्रुतिमधिगतैकव्रतफलम् ।
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहता मण्डनमिदम् ॥८॥

कर से सुन्दर दान देते हैं, सिर से बड़ों के चरणों मे गिरते हैं, मुख से सत्य वाणी बोलते हैं, अतुल बलवाली भुजाओ से संग्राम मे विजय प्राप्त करते हैं, हृदय मे शुद्ध वृत्ति रखते हैं, कानों से पवित्र शास्त्र सुनते हैं—बिना किसी ऐश्वर्य के भी महापुरुषों के यही आभूषण हैं ॥८॥

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणा गृहेषु पचेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते मर्माणि यः प्रवर्तते निवृत्तरागस्य गृह तपोवनम् ॥९॥

जिनका मन विषयों मे फँसा हुआ है, उनसे, वन मे रहने

पर भी दोष होते है, पाँचों इन्द्रियो का निग्रह करने से घर मे भी तप हो सकता है। जो लोग सत्कार्यों मे प्रवृत्त रहते है, और विषयों से मन को हटा चुके हैं, उनके लिए घर ही तपोवन है ॥९॥

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिर गेहिनी
सत्य सूनुरय दया च भगिनी भ्राता मनः सयमः।
शय्या भूमितल दिशोऽपि वसन ज्ञानामृत भोजन-
मेते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद्भय योगिनः ॥१०॥

धैर्य जिनका पिता है, क्षमा माता है, शान्ति स्त्री है, सत्य पुत्र है, दया बहन है, संयम भाई है, पृथ्वी शैया है, दिशा ही वस्त्र है, ज्ञानामृत भोजन है—इस प्रकार जिनके सब कुटुम्बी मौजूद हैं, उन योगियों को अब और किस बात की आवश्यकता रह गई ॥१०॥

यथा चतुर्भिः कनक परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा ॥११॥

जिस प्रकार सोने की चार तरह से—अर्थात् घिसने से, काटने से, तपाने से और पीटने से परीक्षा होती है, उसी प्रकार मनुष्य की भी चार तरह से—अर्थात् त्याग, शील, गुण और कर्म से परीक्षा होती है ॥११॥

परधनहरणे पगु परदारनिरीक्षणेऽप्यन्ध.।
मूकः परापवादे स भवति सर्वप्रियो जगतिः ॥१२॥

दूसरो के धन हरण करने मे जो पङ्गु और दूसरे की स्त्री को कुदृष्टि से देखने मे जो अन्धा है, तथा दूसरे की निन्दा करने मे जो गूँगा है वह ससार मे सब को प्यारा होता है ॥१२॥

विद्या विवादाय धन मदाय शक्तिः परेषा परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥१३॥

दुष्टों के पास विद्या विवाद के लिये, धन गर्व के लिये और शक्ति दूसरे को कष्ट देने के लिये होती है, परन्तु साधु लोग इन सब वस्तुओं का उससे विपरीत उपयोग करते हैं,—अर्थात् विद्या से ज्ञान बढ़ाते हैं, धन से दान करते हैं, और शक्ति से निर्बल की रक्षा करते हैं ॥१३॥

दुर्जन

दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम्।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहल विषम् ॥१॥

दुर्जन लोग मधुरभाषी होते हैं, पर यह बात उनके विश्वास का कारण नही हो सकती, क्योकि उनकी जिह्वा मे तो मिठास होती है, पर हृदय मे हलाहल विष भरा रहता है ॥१॥

दुर्जन प्रथम बन्दे सज्जन तदनन्तरम्।
मुखप्रक्षालनात्पूर्व गुदप्रक्षालन यथा ॥२॥

दुष्ट को पहले नमस्कार करना चाहिए—सज्जन को उसके बाद। जैसे मुँह धोने के पहले गुदा को धोते हैं ॥२॥

अहो प्रकृतिसादृश्य श्लेष्माणो दुर्जनस्य च।
मधुरैः कोपमायाति तिक्तैनैव शाम्यति ॥३॥

देखो, श्लेष्मा और दुष्ट की प्रकृति मे कितनी समता है—दोनो मिठाई से बिगड़ते है और कड़ुआई धारण करने से शान्त हो जाते है ॥३॥

गुणगणगुम्फितकाव्ये मृगयति दोष गुण न जातु खलः।
मणिमयमन्दिरमध्ये पश्यति पिपीलिका छिद्रम् ॥४॥

अनेक गुणों से भरे हुये काव्य मे भी दुष्ट लोग दोष ही

ढूंढ़ते है, गुण की तरफ ध्यान नहीं देते—जैसे मणियों से जड़े हुये सुन्दर महल मे भी चीटी छिद्र ही देखती है ॥४॥

एत सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहित स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये तुध्नन्ति निरर्थक परहित ते के न जानीमहे ॥५॥

सत्पुरुष वे है, जो अपना स्वार्थ त्याग करके दूसरे का हित करते है। जो अपने स्वार्थ को न बिगाड़ते हुये दूसरे का भी हित करते हैं, वे साधारण मनुष्य है। जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरे का हित भी नाश करते है वे मनुष्य के रूप मे राक्षस हैं। परन्तु जो बिना मतलब ही दूसरे के हित की हानि करते रहते हैं, वे कौन हैं, सो हम नही जानते ॥५॥

मित्र

अपि सम्पूर्णता युक्तैः कर्तव्या सुहृदो बुधैः ।
नदीशः परिपूर्णोऽपि चन्द्रोदयमपेक्षते ॥१॥

चाहे सब प्रकार से भरा-पूरा हो, परन्तु फिर भी बुद्धिमान् मनुष्य को मित्र अवश्य बनाना चाहिये, देखो समुद्र सब प्रकार से परिपूर्ण होता है, परन्तु चन्द्रोदय की इच्छा फिर भी रखता है ॥१॥

मित्रवान्साधयत्यर्थान् दुस्साध्यानपि वै यतः
तस्मान्मित्राणि कुर्वीत समानानेव चात्मनः ॥२॥

जिसके मित्र है, वह मनुष्य कठिन कार्यों को भी सिद्ध कर सकता है, इसलिए अपने समान योग्यता वाले मित्र अवश्य बनाने चाहिए ॥२॥

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यानि गूहति गुणान्प्रकटीकरोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥३॥

पापों से बचाता है, कल्याण मे लगाता है, छिपाने योग्य बातो को छिपाता है, गुणों को प्रकट करता है, आपत्ति मे साथ नही छोड़ता, समय पर सहायता देता है, ये सन्मित्र के लक्षण सन्त लोग बतलाते है ॥३॥

आतुरे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसंकटे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥४॥

पीड़ा के समय, व्यसनों मे फँसने पर, दुर्भिक्ष मे, शत्रुओं से संकट प्राप्त होने पर, राजद्वार अर्थात् कोई मुकदमा इत्यादि लगने पर, और श्मशान मे जो ठहरता है, वही भाई है ॥४॥

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥३॥

जैसे दोपहर के पहले छाया प्रारम्भ मे तो बड़ी और फिर क्रमशः क्षय को प्राप्त होती जाती है। और दोपहर के बाद की छाया पहले छोटी और फिर बराबर बढ़ती ही जाती है, वैसे ही दुष्टों और सज्जनो की मित्रता भी क्रमशः सुबह और शाम के पहर की छाया की भाँति घटने बढ़ने वाली होती है ॥५॥

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम् ॥६॥

पीछे तो कार्य की हानि करते रहते है, और आगे मधुर वचन बोलते रहते हैं। इस प्रकार के विष भरे हुए घड़े के समान

मित्रों को, जिनके सिर्फ मुख पर ही दूध लगा है, छोड़ देना चाहिए ॥६॥

मुखं प्रसन्नं विमला च दृष्टिः कथाऽनुरागो मधुरा च वाणी।
स्नेहेऽधिकः सम्भ्रमदर्शनञ्च सदानुरक्तस्य जनस्य लक्षणम् ॥७॥

प्रसन्न मुख, विमल दृष्टि, वार्तालाप मे प्रेम, मधुर वाणी, स्नेह अधिक, बार बार मिलने की इच्छा इत्यादि प्रेमी मित्र के लक्षण हैं ॥७॥

बुद्धिमान्

अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा च पृष्ठतः।
स्वार्थं च साधयेद्धीमान् स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥१॥

अपमान को आगे लेकर और मान को पीछे हटाकर बुद्धिमान् मनुष्य को अपना मतलब साधना चाहिए, क्योंकि स्वार्थ का नाश करना मूर्खता है ॥१॥

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने स्मयः खलजने विद्वज्जने चार्जवम्।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता।
इत्थं ये पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥२॥

अपने लोगो के साथ उदारता, दूसरो पर दया, दुर्जनों के साथ शठता, सज्जनों पर भक्ति, दुष्टो के साथ अभिमान, विद्वानो के साथ सरलता, शत्रुओ के साथ शूरता, बड़े लोगो के साथ क्षमा, स्त्रियो के साथ चतुरता—इस प्रकार के वर्ताव करने मे जो मनुष्य कुशल है वही ससार मे रह सकते है और उन्हीं से ससार रह सकता है ॥२॥

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते हयाश्च नागाश्च वहन्ति देशितः।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥३॥

कही हुई बात को तो पशु भी समझ लेते हैं। देखो, हाथी, घोड़े इत्यादि संकेत से ही काम करते है, लेकिन पण्डित लोग बिना कही हुई बात भी जान लेते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि दूसरे की चेष्टाओ से ही बात को लख सकती है। ३॥

कोलाहले काककुलस्य जाते विराजते कोकिलकूजित किम्।
परस्पर सवदता खलाना मौन विधेयं सतत सुधीभिः ॥४॥

कौओं के कॉव-कॉव मे कोकिल की कूक नहीं अच्छी लगती है। दुष्ट लोग जब आपस मे झगड़ रहे हों, तब बुद्धिमान् का चुप रहना ही अच्छा ॥४॥

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः।
एतदेवात्र पाण्डित्य यत्स्वल्पात् भूरिलक्षणम् ॥५॥

बुद्धिमान् मनुष्य को थोड़े के लिये बहुत का नाश न करना चाहिए। बुद्धिमानी इसी मे है कि थोडे की अपेक्षा बहुत की रक्षा करो ॥५॥

मूर्ख

उपदेशो हि मूर्खाणा प्रकोपाय न शान्तये।
पयःपान भुजगाना केवल विषवर्धनम् ॥१॥

मूर्ख लोगो को उपदेश करने से वे और कुपित होते है, शान्त नही होते। सर्प को दूध पिलाने से केवल विष ही बढ़ता है ॥१॥

मुक्ताफलैः किं मृगपक्षिणा च मिष्टान्नपान किमु गर्दभाणाम्।
अधस्य दीपो वधिरस्य गीत मूर्खस्य किं सत्यकथाप्रसगः ॥२॥

मृगा और पक्षियों इत्यादि को मुक्ताफलो से क्या काम? गधों को सुन्दर भोजन से क्या मतलब? अन्धे को दीपक और

वहरे को सुन्दर गीत का क्या उपयोग ? इसी प्रकार मूर्ख मनुष्य को सत्यकथा से क्या काम ? ॥२॥

शक्यो वारयितु जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो ।
नागेन्द्रो निशिताकुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ ॥
व्याधिभेषजसग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषम् ।
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहित मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥३॥

जल से अग्नि का शमन किया जा सकता है, छत्ते से प्रचड धूप रोकी जा सकती है, मतवाला हाथी भी अंकुश से वश मे किया जा सकता है, वैल-गधे इत्यादि भी डंडे से रास्ते पर लाये जा सकते हैं, अनेक प्रकार की औषधियो से रोगो का भी इलाज किया जा सकता है, नाना प्रकार के मंत्रों के प्रयोग से विष भी दूर किया जा सकता है, इस प्रकार सब का इलाज शास्त्र मे कहा है, पर मूर्ख की कोई औषधि नहीं । ३॥

मूर्खस्य पच चिह्नानि गर्वो दुर्वचन तथा ।
क्रोधश्च दृढवादश्च परवाक्येष्वनादरः ॥४॥

मूर्ख के पॉच चिह्न हैं—अभिमान, कठोर वचन, क्रोध, हठ और दूसरों के वचनों का निरादर ॥४॥

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य ।
एव हि शास्त्राणि वहून्यधीत्य चार्थेषु मूढा खरवद्वहन्ति ॥५॥

जैसे किसी गधे के ऊपर चन्दन लदा हो, तो वह सिर्फ अपने वोझ का ही ज्ञान रखता है, चन्दन के गुण का उसे कुछ भी ज्ञान नहीं । इसी प्रकार वहुत शास्त्र पढ़ा हुआ भी यदि उसका अर्थ नही जानता तो वह केवल गधे के समान ही उस शास्त्र का भार ढोने वाला है ॥५॥

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥६॥

जिनमे विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण, धर्म कुछ नही है, वे इस मृत्युलोक मे, पृथ्वी के भाररूप, मनुष्य के वेष मे पशु है ॥६॥

पंडित और मूर्ख

इभतुरगरथैः प्रयान्ति मूढा धनरहिता विबुधाः प्रयान्ति पद्भ्याम्।
गिरिशिखरगताऽपि काकपंक्तिः पुलिनगतैर्न समत्वमेति हंसैः ॥१॥

मूर्ख लोग हाथी-घोड़े और रथ पर चलते है—गरीब पंडित बेचारे पैदल ही चलते है। परन्तु क्या इससे मूर्ख धनवान् गरीब पण्डित की बराबरी कर सकते हैं ? ऊँचे पर्वत पर चलने वाली कौओं की पंक्ति नीचे नदी-तीर चलनेवाली हंस-श्रेणी की समता नहीं कर सकती ॥१॥

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥२॥

शास्त्र पढ़े हुए लोग भी मूर्ख होते हैं। वास्तव मे जो उस शास्त्र के अनुसार चलता है वही विद्वान् है। खूब सोची-समझी हुई औषधि भी नाम लेने मात्र से किसी रोगी को चंगा नहीं कर सकती ॥२॥

विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्।
न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम् ॥३॥

विद्वान् पुरुष का परिश्रम विद्वान् ही जान सकता है। वन्ध्या स्त्री प्रसव की पीड़ा कभी नहीं जान सकती है ॥३॥

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन च ॥४॥

बुद्धिमान् मनुष्यो का समय सदैव काव्य और शास्त्र के विनोद मे व्यतीत होता है, और मूर्ख लोगों का समय व्यसन, निद्रा अथवा लड़ाई-झगड़े मे जाता है ॥४॥

एकता

अल्पानामपि वस्तूना सहति. कार्यसाधिका ।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥१॥

छोटी छोटी वस्तुओ की भी एकता कार्य को सिद्ध करने वाली होती है। तिनकों के मेल से बना हुआ रस्सा मत्त हाथियों को भी बाँध सकता है ॥१॥

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मम् न वै सुख प्राप्नुवन्तीह भिन्ना ।
न वै भिन्ना गौरव प्राप्नुवन्ति न वै भिन्ना. प्रशम रोचयन्ति ॥२॥

जिन लोगों मे फूट है, वे न तो धर्म का आचरण कर सकते है, न सुख प्राप्त कर सकते हैं, न गौरव प्राप्त कर सकते हैं और न शान्ति का आनन्द ही पा सकते है ॥२॥

बहवो न विरोद्धव्या दुर्जयास्तेऽपि दुर्बला ।
स्फुरन्तमपि नागेन्द्र भक्षयन्ति पिपीलिका. ॥३॥

चाहे दुर्बल भी हों, परन्तु यदि वे सुसगठित, संख्या मे अधिक हैं, तो उनसे विरोध न करना चाहिए, क्योंकि वे दुर्बल होने पर भी सख्या मे अधिक हैं, इसलिये मुश्किल से जीते जा सकते हैं। देखो, फुसकारते हुए साँप को भी चीटियाँ मिलकर खा जाती हैं ॥३॥

वय पच वय पञ्च वय पचशत च ते ।
अन्यै· सह विवादे तु वय पञ्च ,शत च वै ॥४।

यों तो (आपस मे लड़ने से) हम (पाडव) पाँच और वे

(कौरव) सौ है, पर जहाँ दूसरे के साथ झगड़ा आ पड़े, हम सब को मिलकर एक सौ पॉच हो जाना चाहिए ॥४॥

यत्रात्मीयो जनो नास्ति भेदस्तत्र न विद्यते ॥
कुठारे दाण्डनिर्मुक्ते भिद्यन्ते तरवः कथम् ॥५॥

जहाँ अपना कोई नही वहाँ भेद फूट नही सकता है। बिना दण्डे (बेट) की कुल्हाड़ी वृक्षों को कैसे काट सकती है? "कुल्हाड़ी का दण्डा अपने गोत का काल होता है" ॥५॥

कुठारमालिका दृष्ट्वा कम्पिताः सकला द्रुमाः।
वृद्धस्तरुरुवाचेद स्वजातिर्नैव दृश्यते ॥६॥

कुल्हाड़ियो के झुण्ड को देखकर सारे वृक्ष कॉपने लगे, पर उनमे एक बुड्ढा वृक्ष था, उसने कहा (भाई कॉपते क्यो हो, ये खाली कुल्हाड़ियाँ कुछ नही कर सकती) इनमे अपनी जाति का (दण्डा) तो कोई दिखाई नही देता। (जब तक कोई अपने गिरोह का शत्रुओं के समूह मे घुस कर भेद नहीं देवे, तब तक प्रबल शत्रु-समूह भी कुछ नही कर सकता) ॥६॥

स्त्री

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा।
धर्मानुकूला क्षमया धरित्री षड्गुणयमेतद्धि पतिव्रतानाम् ॥१॥

पतिव्रता स्त्रियों मे छै गुण होते है—(१) कार्य मे मन्त्री के समान उचित सलाह देती है, (२) सेवा करने मे दासी के समान आराम देती है, (३) भोजन कराने मे माता के समान ध्यान रखती है, (४) शयन के समय रम्भा अप्सरा के समान सुख देती है, (५) धर्मकार्यों मे सदा अनुकूल रहती है, और (६) क्षमा मे पृथ्वी के समान सहनशील होती है ॥१॥

भ्रमन्सपूज्यते राजा भ्रमन्सपूज्यते धनी ।
भ्रमन्सपूज्यते विद्वान्-स्त्री भ्रमन्ती विनश्यति ॥२॥

राजा, धनी और विद्वान लोग तो घूमते फिरते हुए पूजे जाते हैं, परन्तु स्त्री घूमती-फिरती हुई नष्ट अथवा भ्रष्ट हो जाती है । २॥

सा कविता सा वनिता यस्याः श्रवणेन दर्शनेनापि ।
कविहृदय पतिहृदय सरल तरल च सत्वर भवति ॥३॥

कविता वही है, और वनिता वही है कि जिसके श्रवण करने और दर्शन करने मात्र से कवि का हृदय और पति का हृदय तुरन्त ही प्रसन्न और द्रवित हो जाता है ॥३॥

पूजनीया महाभागा पुण्याश्च गृहदीप्तय. ।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद्रक्ष्या विशेषत. ॥४॥

स्त्रियाँ घर की लक्ष्मी है, इसीलिए वे पूज्य हैं, बड़े भाग्य-वाली हैं, पुण्यशील हैं, घर की दीप्ति है । उनकी रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिए ॥४॥

परस्त्री-निषेध

परिहरतु पराङ्गनानुषङ्ग त्विदमतिर्जीवितमस्ति वल्लभ चेत् ।
पश्यतहरिणीदृशो निमित्त दश दशकन्धरमौलयो लुठन्ति ॥१॥

यदि मनुष्य को अपने प्राण प्यारे है, तो वह परस्त्री के ससर्ग को छोड़ दे । देखो, सीता का हरण करने के कारण दस सिरवाले रावण के भी दसो सिर धरती पर लोटे ॥१॥

अपसर मधुकर दूर बहुकेसरकेतकीकुसुमकोऽपि ।
इह न हि मधुलवलाभो भवति पर धूलिधूसर वदनम् ॥२॥

हे मधुकर ! बहुत परागवाले केतकी-कुसुम से भी दूर ही रहो। यहाँ रस तो जरा भी नही मिलेगा—हाँ, मुख धूल से अवश्य भर जायगा ।।२।।

रक्षःपतिर्जनकजाहरणेन बाली—
तारापहारविधिना स च कीचकोऽपि ।
पाञ्चालिकाप्रमथनान्निधन जगाम
तस्मात्कदापि परदाररतिं न कुर्यात् ।।३।।

सीता के हरण से रावण, तारा के हरण से बालि और द्रौपदी को छेड़ने से कीचक मारे गये। इसीलिए परस्त्री से कभी संसर्ग न करो ।।३।।

तप्ताङ्गारसमा नारी घृतकुम्भसम. पुमान् ।
तस्मात् वह्निं घृत चैव नैकभ स्थापयेद् बुधः ।।४।।

स्त्री जलते हुए अङ्गार के समान है, और पुरुष घी के घडे के समान हैं। इसलिए आग और घी, दोनो को बुद्धिमान् लोग एक जगह न रखें ।।४।।

पश्यति परस्य युवतीं सकाममपि तन्मनोरथ कुरुते ।
ज्ञात्वैव तदप्राप्तिं व्यर्थं मनुजो हि पापभाग्भवति ।।५।।

मनुष्य दूसरे की युवती स्त्री देखता है, और यह जानते हुए भी कि यह मुझको मिलेगी नहीं, कामातुर होकर उसके पाने की इच्छा करता है। अपने इस व्यवहार से वह वृथा पाप का भागी बनता है ।।५।।

दैव

अरक्षित तिष्ठति दैवरक्षित सुरक्षित दैवहत विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ।।१।।

ईश्वर जिसकी रक्षा करता है, वह अन्य किसी की रक्षा के बिना भी सुरक्षित रहता है, और ईश्वर जिसके अनुकूल नही है, वह सुरक्षित होने पर भी नाश हो जाता है। अनाथ बच्चा वन मे छोड़ देने पर भी जीवित रहता है, और बड़े यत्न से पालापोपा हुआ भी घर मे नष्ट होता है ॥१॥

अनुकूलतामुपगते हि विधौ सफलत्वमेति लघुसाधनता।
प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता ॥२॥

परमात्मा के अनुकूल होने पर थोड़ा साधन भी सफल हो जाता है, और प्रतिकूल होने पर बहुत साधन भी विफल हो जाता है ॥२॥

न निर्मितः केन न दृष्टपूर्वो न श्रूयते हेममयः कुरगः।
तथापि तृष्णा रघुनन्दस्य विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ॥३॥

सोने का हिरन न कभी पैदा हुआ, और न किसी ने देखा, न सुना, फिर भी श्रीरामचन्द्रजी को उसके प्राप्त करने का लालच समाया। विनाश-काल आने पर बुद्धि विपरीत हो जाती है ॥३॥

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलकरणं भुव.।
तदपि तत्क्षणभंगि करोति चेदहह कष्टमपण्डितता विधेः ॥४॥

बड़े बड़े गुणवान् पुरुषरत्नो को, कि जो इस पृथ्वी के भूषण-स्वरूप हैं, रचता है, परन्तु फिर भी उनको क्षणभंगुर करता है। हा कष्ट ! दैव की यह मूर्खता ॥४॥

परगृह-गमन

अयममृतनिधानं नायकोऽप्योषधीना-
ममृतमयशरीरः कान्तियुक्तोऽपि चन्द्र ।

भवति विगतरश्मिर्मण्डल प्राप्य भानोः
परसदननिविष्ट. को लघुत्व न याति ॥१॥

चन्द्रमा अमृत का भण्डार है, औषधियों का पति है, इसका शरीर अमृतमय है, कान्तियुक्त है, फिर भी जब यह सूर्य के मण्डल मे जाता है, तब (अमावस को) इसका तेज नष्ट हो जाता है। (सच है) दूसरे के घर जाने से कौन लघुता को नही प्राप्त होता ॥१॥

एह्यागच्छ समाश्रयासनमिद कस्माच्चिरात् दृश्यसे
का वार्ता कुशलोऽसि बालसहितः प्रीताऽस्मि ते दर्शनात् ॥
एव ये समुपागतान्प्रणयिना प्रह्लदन्यादरात् ।
तेषा युक्तमशकितेन मनसा हर्म्याणि गन्तु सदा ॥२॥

"आइये, यहाँ पर विराजिए, आसन मौजूद है, बहुत दिन के बाद दर्शन दिए, कहिए, क्या समाचार है ? बाल बच्चों सहित कुशल से तो हैं ? आपके दर्शन से मुझे बड़ा आनन्द हुआ"— इस प्रकार जो अपने घर आये हुए प्रेमियों को आदर-पूर्वक प्रसन्न करते है उनके घर मे सदा, बिना किसी संकोच के, जाना चाहिए ॥२॥

नाभ्युत्थानक्रिया यत्र नालापा मधुराक्षरा. ।
गुणदोषकथा नैव तत्र हर्म्ये न गम्यते ॥३॥

जहाँ पर कोई उठकर लेवे भी नही, और न मधुर वचनों से बोले, और न किसी प्रकार की गुण-दोष की बात ही पूछे, उस घर मे न जाना चाहिए ॥३॥

अतिपरिचयादवज्ञा सततगमनादनादरो भवति ।
मलये भिल्लपुरन्ध्री चन्दनतरुकाष्ठमिंधन कुरुते ॥४॥

अति-परिचय अर्थात् बहुत जान-पहचान, हो जाने से

अवज्ञा होती है, और हमेशा जाते रहने से अनादर होता है। मलयाचल पर्वत पर भिल्लों की स्त्रियाँ चन्दन-वृक्ष के काठ ही को ईंधन बनाकर जलाती है ॥४॥

राजनीति

नृपस्य परमो धर्मः प्रजानां परिपालनम्।
दुष्टनिग्रहणं नित्यं नऽनीत्या ते विसाह्यं मे ॥१॥

प्रजा का पालन और दुष्टों का निग्रह राजा का परम धर्म है, पर ये दोनों ही बाते बिना नीति जाने नही हो सकती ॥१॥

राजा बन्धुरबन्धूनां राजा चक्षुरचक्षुषाम्।
राजा पिता च माता च सर्वेषां न्यायवर्त्तिनाम् ॥२॥

राजा अबन्धुओं का बन्धु है, और अन्धो की आँख है। वही सबका माता-पिता है—यदि वह न्याय से चलता हो ॥२॥

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥३॥

जैसे भौंरा फूलो को बिना हानि पहुँचाये—उनकी रक्षा करते हुए—मधु ग्रहण कर लेता है, वैसे ही राजा को उचित है कि, प्रजा को बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचाये, कर ले लिया करे ॥३॥

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥४॥

जो राजा मोह या लालच मे अन्धा होकर अपनी प्रजा को पीड़ित करता है, वह राज्य से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, और अपने भाइयों सहित अपने जीवन से हाथ धो बैठता है। (अर्थात्

प्रजा बिगड़कर उसके राज्य को छीन लेती है, और उसको उसके आदमियो सहित मार डालती है ।।४।।

हिरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च ।
तथान्यदपि यत्किंचित्प्रजाभ्यः स्यान्महीपतेः ।।५।।

सोना-चाँदी, धन-धान्य, रत्न और विविध प्रकार से वाहन इत्यादि जो कुछ भी राजा के पास है, वह सब प्रजा से ही प्राप्त हुआ है ।।५।।

विद्याकलाना वृद्धि. स्यात्तथा कुर्यान्नृपः सदा ।
विद्याकलोत्तमान्दृष्ट्वा वत्सरे पूजयेच्च तान् ।।६।।

इसलिए राजा को अपनी प्रजा के अन्दर विद्या और कला-कौशल इत्यादि की सदैव वृद्धि करते रहना चाहिए, और प्रति-वर्ष, जो लोग इनमे विशेष योग्यता दिखलावे, उनको, पूजते रहना चाहिए ।।६।।

नरपतिहितकर्त्ता द्वेष्यता याति लोके
जनपदहितकर्त्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः ।
इति महति विरोधे वर्त्तमाने समाने
नृपतिजनपदाना दुर्लभः कार्यकर्त्ता ।।७।।

जो राजा का हितकर्त्ता होता है, प्रजा उससे द्वेष करती है, और यदि प्रजा के हित की तरफ विशेष ध्यान देता है, तो राजा उसे छोड़ देता है। यह बड़ी कठिनाई है। इस कठिनता को सम्हालते हुए, एक ही समय मे, दोनों का बराबर हित करता हुआ चला जाय, ऐसा कार्यकर्त्ता दुर्लभ है ।।७।।

नराधिपा नीचजनानुवर्त्तिन बुधोपदिष्टेन पथा न याति ये ।
विनश्यतो दुर्गममार्गनिर्गमं समस्तसवाधमनर्थपिंजरम् ।।८।।

जो राजा नीच जनो के बहकावे मे आकर विवेकशील पुरुषों

के बतलाये हुए मार्ग मे नही चलते, वे चारो ओर से घिरे हुए ऐसे पिंजरे मे पड़ जाते है कि जहाँ से निकलना फिर उनके लिये कठिन हो जाता है ॥८॥

नियुक्तहस्तार्पितराज्यभारास्तिष्ठन्ति ये सौवविहारसाराः ।
बिडालवृन्दार्पितदुग्धपूराः स्वपन्ति ते मूढधियः क्षितीन्द्राः ॥९॥

जो राजा अपनी नौकरशाही के हाथ मे सारा राज्य-प्रबन्ध सौंपकर आप महलों के भोग-विलास मे पड़े रहते हैं, वे मूर्ख राजा मानों बिलारों के झुण्ड को दुग्ध का भंडार सौंपकर आप बेखबर सो रहे है ॥९॥

राज्ञा हि रक्षाधीशाः परस्यादायिनः शठाः ।
मर्त्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥१०॥

राजा के अधिकारी-गण प्रायः दूसरो के धन और माल को अन्याय से लूटा करते है, उनसे प्रजा की रक्षा करना राजा का परम कर्त्तव्य है ॥१०॥

प्रजाभ्यः साधुभूतेन व्यवहारं विचिन्तयेत् ।
न भृत्यपक्षपाती स्यात्प्रजापक्षं समाश्रयेत् ॥११॥

अधिकारी लोग प्रजा के साथ कैसा बर्त्ताव करते है, इस बात की जॉच राजा को पक्षपातरहित होकर करना चाहिए। अधिकारियो का पक्ष न लेकर सदैव प्रजा का पक्ष लेना चाहिए ॥११॥

कौमसंकोचमास्थाय प्रहारानपि मर्षयेत् ।
काले काले च मतिमानुत्तिष्ठेत्कृष्णसर्पवत् ॥१२॥

बुद्धिमान् राजा को कछुए की तरह अङ्ग सिकोड़ कर शत्रु की चोट सहनी चाहिए, परन्तु समय-समय पर काले सर्प की तरह फुङ्कार कर उठ खड़ा होना चाहिए ॥१२॥

उत्खातान्प्रतिरोपयन्कुसुमिताश्चिन्वन् लघून्वर्धयन्
अत्युच्चान्नमयन्नतान्समुदयन्विश्लेषयन्संहतान् ।
क्रूरान्कण्टकिनो बहिर्निरसयन्म्लानान् पुनः सेचयन्
मालाकार इव प्रपंचचतुरो राजा चिरं नन्दति ॥ १३ ॥

उखड़े हुओं को जमाता हुआ, फूले हुओ को चुनता हुआ, छोटों को बढ़ाता हुआ, ऊँचों को लचाता हुआ, और लचे हुओं को उठाता हुआ, संगठनवालों को छिन्न भिन्न करता हुआ, क्रूरों और कंटकियों को बाहर निकालता हुआ, कुम्हलाये हुओं को फिर सींचता हुआ, माली की तरह प्रपञ्च मे चतुर राजा बहुत दिन राज्य-सुख भोगता है ॥१३॥

कूटनीति

निर्विषेणापि सर्पेण कर्त्तव्या महती फणा ।
विषमस्तु न चाप्यस्तु खटाटोपो भयंकरः ॥१॥

सर्प मे चाहे विष न हो, परन्तु फिर भी उसको अपना फण उभारना चाहिए, क्योंकि विष हो, चाहे न हो, केवल खटाटोप भी दूसर को डरवाने के लिये काफी है ॥१॥

नात्यन्त सरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम् ।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥२॥

बहुधा सीधा नहीं बनना चाहिए। वन मे जाकर देखो। वहाँ सीधे सीधे सब काट डाले गये और टेढ़े वृक्ष खडे है ॥२॥

असती भवति सलज्जा क्षारं नीरं च निर्मलं भवति ।
दम्भी भवति विवेकी प्रियवक्ता भवति धूर्तजनः ॥३॥

कुलटा स्त्री लज्जावती बनती है, खारा पानी निर्मल दिखाई देता है, दम्भी विवेकी बनता है, और धूर्त मनुष्य मीठे वचन बोलने वाले होते हैं ॥३॥

यस्मिन्यथा वर्त्तते यो मनुष्यः तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥४॥

जिसके साथ जो मनुष्य जैसा बर्त्ताव करे, वह भी उसके साथ वैसा ही बर्त्ताव करे—यही धर्म है । कपटी के साथ कपट का ही बर्त्ताव करना चाहिए और साधु के साथ सज्जनता का व्यवहार करना चाहिए ॥४॥

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य निघ्नन्ति शठास्तथाविधा न संवृताङ्गान् निशिता इवेषवः ॥५॥

जो मनुष्य कपटी के साथ कपट का ही बर्ताव नही करते, वे मूर्ख हार खाते हैं, क्योंकि ऐसे भोले-भाले मनुष्यों को धूर्त लोग इस प्रकार मार डालते है, जैसे कवच-रहित मनुष्य को बाण उसके शरीर में प्रविष्ट होकर मार डालते है ॥५॥

साधारण नीति

तावद् भयेषु भेत्तव्य यावद् भयमनागतम् ।
आगत तु भय दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमशङ्कया. ॥१॥

भय को तभी तक डरना चाहिए, जब तक कि वह आया नहीं, और जब एक बार आ जावे, तब निःशंक होकर आक्रमण करना चाहिए ॥१॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
धर्म. स नो यत्र न सत्यमस्ति सत्य न तत् यच्छलताभ्युपेतम् ॥२॥

वह सभा नही, जिसमें वृद्ध न हो । वे वृद्ध नहीं जो धर्म न बतलावें । वह धर्म नही, जिसमें सत्य न हो, और वह सत्य नहीं, जो छल से भरा हो ॥२॥

उत्खातान्प्रतिरोपयन्कुसुमिताश्चिन्वन् लघून्वर्धयन्
अत्युच्चान्नमयन्नतान्समुदयन्विश्लेषयन्संहतान् ।
क्रूरान्कण्टकिनो बहिर्निरसयन्म्लानान् पुनः सेचयन्
मालाकार इव प्रपंचचतुरो राजा चिरं नन्दति ॥ १३ ॥

उखड़े हुओ को जमाता हुआ, फूले हुओं को चुनता हुआ, छोटों को बढ़ाता हुआ, ऊँचों को लचाता हुआ, और लचे हुओं को उठाता हुआ, संगठनवालों को छिन्न भिन्न करता हुआ, क्रूरों और कंटकियो को बाहर निकालता हुआ, कुम्हलाये हुओं को फिर सींचता हुआ, माली की तरह प्रपञ्च मे चतुर राजा बहुत दिन राज्य-सुख भोगता है ॥१३॥

कूटनीति

निर्विषेणापि सर्पेण कर्त्तव्या महती फणा ।
विषमस्तु न चाप्यस्तु खटाटोपो भयंकरः ॥१॥

सर्प मे चाहे विष न हो, परन्तु फिर भी उसको अपना फण उभारना चाहिए, क्योंकि विष हो, चाहे न हो, केवल खटाटोप भी दूसर को डरवाने के लिये काफी है ॥१॥

नात्यन्त सरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम् ।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥२॥

बहुधा सीधा नहीं बनना चाहिए। वन मे जाकर देखो। वहाँ सीधे सीधे सब काट डाले गये और टेढ़े वृक्ष खडे है ॥२॥

असती भवति सलज्जा क्षारं नीरं च निर्मलं भवति ।
दम्भी भवति विवेकी प्रियवक्ता भवति धूर्तजनः ॥३॥

कुलटा स्त्री लज्जावती बनती है, खारा पानी निर्मल दिखाई देता है, दम्भी विवेकी बनता है, और धूर्त मनुष्य मीठे वचन बोलने वाले होते है ॥३॥

यस्मिन्यथा वर्त्तते यो मनुष्यः तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥४॥

जिसके साथ जो मनुष्य जैसा बर्त्ताव करे, वह भी उसके साथ वैसा ही बर्त्ताव करे—यही धर्म है। कपटी के साथ कपट का ही बर्त्ताव करना चाहिए और साधु के साथ सज्जनता का व्यवहार करना चाहिए ॥४॥

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य निघ्नन्ति शठास्तथाविधा न संवृताङ्गान् निशिता इवेषवः ॥५॥

जो मनुष्य कपटी के साथ कपट का ही बर्ताव नहीं करते, वे मूर्ख हार खाते हैं, क्योंकि ऐसे भोले-भाले मनुष्यों को धूर्त लोग इस प्रकार मार डालते है, जैसे कवच-रहित मनुष्य को बाण उसके शरीर मे प्रविष्ट होकर मार डालते है ॥५॥

साधारण नीति

तावद् भयेषु भेत्तव्य यावद् भयमनागतम्।
आगत तु भय दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमशङ्कया। ॥१॥

भय को तभी तक डरना चाहिए, जब तक कि वह आया नहीं, और जब एक बार आ जावे, तब निःशंक होकर आक्रमण करना चाहिए ॥१॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति सत्य न तत् यच्छलताभ्युपेतम् ॥२॥

वह सभा नहीं, जिसमे वृद्ध न हो। वे वृद्ध नही जो धर्म न बतलावें। वह धर्म नही, जिसमे सत्य न हो, और वह सत्य नही, जो छल से भरा हो ॥२॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥३॥

परतन्त्रता एक बड़ा भारी दुःख है, और स्वतंत्रता ही सब से बड़ा सुख है। संक्षेप से यही सुख-दुःख का लक्षण है ॥३॥

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्।
यथा किराती करिकुम्भलब्धां मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम् ॥४॥

जो जिसके गुण का प्रभाव नहीं जानता वह उसकी सदा निन्दा करता है, इसमे कोई विचित्रता नही। देखो, भिल्लनी गजमुक्ता को छोड़ कर घुँघचियों की माला पहनती है ॥४॥

अग्निरापः स्त्रियो मूर्खः सर्पो राजकुलानि च ।
नित्यं यत्नेन सेव्यानि सद्यः प्राणहराणि षट् ॥५॥

अग्नि, जल, स्त्री, मूर्ख, सर्प, राजवंश इनका सदा सावधानी के साथ सेवन करना चाहिए, क्योंकि ये छै तत्काल प्राण को हरने वाले हैं ॥५॥

प्रियवचनवादी प्रियो भवति विमृशितकार्यकरोऽधिकं जयति ।
बहुमित्रकरः सुखं वसते यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥६॥

प्रिय वचन बोलने वाला प्रिय होता है, विचारपूर्वक अच्छा काम करने वाला विशेष सफलता प्राप्त करता है, बहुत मित्र बनाने वाला सुखी रहता है, और जो धर्म मे रत रहता है, वह सद्गति पाता है ॥६॥

स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः ।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥७॥

चुप बैठ रहने वाले का यश नाश हो जाता है, जिनका चित्त एक समान नहीं होता, उनकी मित्रता नष्ट हो जाती है, जो इन्द्रियों के नष्ट होते है—यानी दुराचारी होते है, उनका कुल नष्ट हो जाता है, व्यसनों मे फॅस जाने वालों का विद्या-फल नष्ट हो जाता है, लालची का सुख नष्ट हो जाता है और जिस राजा का मन्त्री प्रमादी यानी लापरवाह होता है, उसका राज्य नष्ट हो जाता है ॥७॥

काके शौच द्यूतकारे च सत्य सर्पे क्षान्तिर्यौवने कामशान्तिः ।
क्लीवे धैर्य मद्यपे तत्त्वचिन्ता राजा मित्र केन दृष्ट श्रुत वा ॥८॥

कौवे मे पवित्रता, जुआरी मे सत्य, सर्प मे क्षमा, युवावस्था मे काम की शान्ति, नपुंसक मे धैर्य, मद्यपी मे विवेक, और राजा का मित्र—ये बाते किसी ने देखी अथवा सुनी है ? ॥८॥

कोऽतिभारः समर्थाना कि दूर व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सविद्याना कः परः प्रियवादिनाम् ॥९॥

शक्तिशाली पुरुष के लिये कौन सा काम बहुत भारी है ? व्यवसायी के लिये कौन सा देश बहुत दूर है ? विद्वान् के लिये कहाँ विदेश है ? प्रिय बोलने वाले के लिये कौन पराया है ? ॥९॥

कुग्रामवासः कुलहीनसेवा कुभोजन क्रोधमुखी च भार्या ।
पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या विनाग्निना षट् प्रदहन्ति कायम् ॥१०॥

कुग्राम का वास, नीच की सेवा, बुरा भोजन, क्रोधमुखी भार्या, मूर्ख पुत्र, विधवा कन्या, ये छै बाते, विना अग्नि के ही, शरीर को जलाती हैं ॥१०॥

कान्तावियोग. स्वजनापमानो रणस्य शेष' कुनृपस्य सेवा ।
दरिद्रभावो विषमा सभा च विनाग्निमेते प्रदहन्ति कायम् ॥११॥

स्त्री का वियोग, अपने ही लोगों के द्वारा किया हुआ अपमान रण से बचकर भगा हुआ बैरी, बुरे राजा की सेवा, निर्धनता, फूटवाली सभा, ये बिना अग्नि के शरीर जलाती है ॥११॥

व्यवहार-नीति

चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा अर्थातुराणां स्वजनो न बन्धुः ।
कामातुराणां न भयं न लज्जा क्षुधातुराणां न बलं न तेजः ॥१॥

चिन्तातुर मनुष्य को न सुख है, न निद्रा है। धन के लिये आतुर मनुष्य को न कोई स्वजन है, और न बन्धु है। कामातुर मनुष्य को न भय है, न लज्जा है। और क्षुधातुर के पास न बल है, न तेज है ॥१॥

रूपं जरा सर्वसुखानि तृष्णा खलेषु सेवा पुरुषाभिमानम् ।
याच्ञा गुरुत्वं गुणमात्मपूजा चिन्ता बलं इन्त्यदया च धर्मम् ॥२॥

बुढ़ापा रूप का, लालच सारे सुखों का, दुष्ट की सेवा पुरुष के आत्माभिमान का, माँगना बड़प्पन का, अपना अत्यादर गुण का, चिन्ता बल का और निर्दयता धर्म का नाश कर देती है ॥२॥

नीचरोमनखश्मश्रुः सुवेषोऽनुल्बणोज्ज्वलः ।
सातपत्रपदत्राणो विचरेत्पदगमात्रदृक् ॥३॥

रोम, नख, दाढ़ी-मूछ इत्यादि हजामत के बाल बनवा-कटवा कर छोटे रखना चाहिये—बहुत बड़े बड़े न रखना चाहिये। स्वच्छ वस्त्राभूषण इत्यादि धारण करके सभ्यता का भेष रखना चाहिये। हाथ मे छाता और पैर मे जूता इत्यादि धारण करके चार कदम आगे देख कर चलना चाहिये ॥३॥

स्थानेष्वेव नियोक्तव्या भृत्याश्चाभरणानि च ।
न हि चूड़ामणिः पादे नूपूरं मूर्ध्नि धार्यते ॥४॥

नौकरों को और आभूषणों को अपनी अपनी जगह ठीक २ नियुक्त करना चाहिये; क्योंकि शीशफूल पैर मे और पाजेब सिर पर धारण नहीं किया जा सकता ॥४॥

शनैः पथा शनैः कथा शनैः पर्वतमस्तके।
शनैर्विद्या शनैर्वित्त पचैतानि शनैः शनैः ॥५॥

रास्ता चलना, कथरी गूँथना, पर्वत के मस्तक पर चढ़ना, विद्या पढ़ना, धन जोड़ना—ये पॉच बाते धीरे ही धीरे होती हैं ॥५॥

दाने तपसि शौर्ये वा विज्ञाने विनये नये।
विस्मयो न हि कर्त्तव्यः बहुरत्ना वसुन्धरा ॥६॥

दान मे, तप मे, शूरता मे, विज्ञान में, विनय मे और नीतिमत्ता मे विस्मय नही करना चाहिए, क्योंकि पृथ्वी बहुत रत्नों वाली है—सारांश यह कि पृथ्वी पर एक से एक बड़े दानी, तपस्वी, शूरवीर, विज्ञानवेत्ता, विनयशील और नीतिज्ञ पुरुष पड़े हुए हैं ॥६॥

धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासग्रहणेषु च।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत् ॥७॥

धनधान्य के व्यवहार मे, विद्या पढ़ने मे और आहार-व्यवहार मे लज्जा छोड़ देने से ही सुख मिलता है ॥७॥

काल नियम्य कार्याणि ह्याचरेन्नन्यथा क्वचित्।
गच्छेदनियमेनैव सदैवान्तःपुर नरः ॥८।

समय को बॉधकर सब काम सदैव करना चाहिए। अनियमित रूप से कभी आचरण न करना चाहिए। हॉ, घर के अन्दर अनियमित रूप से भी सदैव जाते रहना चाहिए ॥८॥

खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे गत न शोचामि कृत न मन्ये।
द्वाभ्या तृतीयो त भवामि राजन् किं कारण भोज भवामि मूर्खः ॥६॥

मैं खाता हुआ मार्ग नही चलता हूँ, और बहुत बातें करते हुए बहुत हँसता नहीं हूँ। गये हुए का शोच नहीं करता, और जहाँ दो आदमी एकान्त मे बात करते हों वहाँ मैं (तीसरा) जाता भी नहीं—फिर हे राजा भोज ! मै मूर्ख क्यों हूँ ? ॥९॥

प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जित धनम्।
तृतीये नार्जित पुण्य चतुर्थे किं करिष्यति ॥१०॥

प्रथम अवस्था मे विद्या नही सम्पादित की, दूसरी अवस्था मे धन नही उपार्जित किया, तीसरी अवस्था मे पुण्य नहीं कमाया, तो फिर चौथी अवस्था—बुढ़ापे—मे क्या करेंगे ॥१०॥

कुराजराज्येन कुत. प्रजासुख कुमित्रमित्रेण कुतोऽभिनिर्वृतिः।
कुदारदारैश्च कुतो गृहे रतिः कुशिष्यमध्यापयतः कुतो यशः ॥११॥

अन्यायी राजा के राज्य मे प्रजा को सुख कहाँ, कपटी मित्र की मित्रता मे सुख कहाँ ? दुर्गुणी स्त्री के साथ घर मे सुख कहाँ ? और खराब शिष्य को पढ़ाने से यश कहाँ ? ॥११॥

स्फुट

वपुः कुब्जीभूत गतिरपि यथा यष्टिशरणा
विशीर्णा दन्तालिः श्रवणविकल श्रोत्रयुगलम्।
शिरः शुक्ल चक्षुस्तिमिरपटलैरावृतमहो
मनो मे निर्लज्ज तदपि विषयेभ्यः स्पृहयति ॥१॥

कमर टेढ़ी पड़ गई है, लाठी के सहारे चलता हूँ, दाँत टूट गये हैं, कान बहरे हो रहे हैं, सिर के बाल सफेद हो रहे हैं,

आँखों के सामने अँधेरा छाया रहता है, तथापि मेरा यह निर्लज्ज मन विषयों की ही इच्छा करता है ॥१॥

क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलहः
क्वचिद्वीणावाद्यः क्वचिदपि च हाहेति रुदितम् ।
क्वचिद्रम्या रामा क्वचिदपि जराजर्जरतनुः ।
न जाने ससार· किममृतमयः किं विषमयः ॥२॥

कही विद्वान् लोग सभा कर रहे हैं, कही शराबी लोग मस्त होकर लड़ रहे हैं, कहीं बीणा बज रही है, कही हाय हाय कर के लोग रो रहे हैं, कही सुन्दर रमणीय स्त्रियाँ दिखाई दे रही हैं, कहीं बुढ़ापे मे जीर्णजर्जर शरीर । जान नही पड़ता कि यह संसार अमृतमय है अथवा विषमय ॥२॥

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जु दृढ बन्धनमाहुः ।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे ॥३॥

संसार मे बहुत प्रकार के बन्धन है परन्तु प्रेम का बन्धन सब से अधिक मजबूत है—देखो भौंरा, जो काठ मे भी छेद कर देता है, वही जब कमल-कोष मे रात को बँध जाता है, तब कुछ नहीं कर सकता ॥३॥

चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानात् भ्रान्ते चित्ते पापचर्यामुपैति ।
पाप कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढा. तस्मान्मद्य नैव पेय न पेयम् ॥४॥

मद्यपान से चित्त मे भ्रान्ति उत्पन्न होती है, और चित्त मे भ्रान्ति हो जाने से पाप की तरफ मन चलता है, पाप करने से दुर्गति होती है । इसलिये मद्यपान कभी न करना चाहिये ॥४॥

वार्ता च कौतुकवती विमला च विद्या
लोकोत्तरः परिमलश्च कुरंगनाभेः ।
तैलस्य बिन्दुरिव वारिणि दुर्निवार-
मेतत्त्रय प्रसरति स्वयमेव लोके ॥५॥

कौतूहल उत्पन्न करने वाली वार्ता, सुन्दर विमल विद्या और कस्तूरी की गन्ध—ये तीन स्वयं सब जगह फैल जाती हैं, रोके नही रुक सकती—जिस प्रकार पानी मे तेल का बूँद ॥५॥

अर्थाः पादरजःसमा गिरिनदीवेगोपम यौवनम् ।
आयुष्य जलबिन्दुलोलचपल फेनोपम जीवनम् ॥
दान यो न करोति निश्चलमतिर्भोग न भु क्ते च यः ।
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते ॥६॥

धन पैरों की धूल के समान है, जवानी पहाड़ी नदी के वेग के समान शीघ्रगामी है, आयु जल के चंचल विन्दु के समान अस्थिर है, जीवन पानी के फेन के समान क्षणभगुर है। ऐसी दशा मे भी जो स्थिर बुद्धि होकर दान नही करते हैं, और न सुख भोगते हैं, वे बुढ़ापे मे पछताकर शोक की आग मे जलते है ॥६॥

परिशिष्ट

जप-यज्ञ

भगवान् कृष्ण ने गीता के १० वे अध्याय मे अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए एक जगह कहा है—

"यज्ञाना जपयज्ञोऽस्मि"

—गीता १०-२५

जितने प्रकार के यज्ञ, यानी परमार्थ के कार्य हैं, उन सब मे जपयज्ञ मैं हूँ। क्योंकि सिद्धि प्राप्त करने के लिए, जप एक बहुत ही सरल प्रक्रिया है। अन्यान्य यज्ञों मे बहुत साधन सामग्री की आवश्यकता होती है, परन्तु जप यज्ञ मे सिवाय भगवान् के नाम के और किसी भी बाह्य उपकरण की जरूरत नही। जरूरत है सिर्फ मन के एकाग्र करने की—

मनः सहृत्य विपयान् मत्रार्थगतमानसः।
न द्रुत न विलम्ब च जपेन्मौक्तिकपक्तिवत्॥

मन को विषयों से चारों ओर से खीचकर उसको अपने इष्टदेव के नाम अथवा मंत्र के अर्थ मे लगावे, और न बहुत जल्दी और न बहुत देर से, इस प्रकार से जपे जैसे मोतियों की माला।

जप से हम मानों अपने देवता को एक रटन से भीतर ही भीतर पुकार रहे हैं। उसके गुणों का साथ ही साथ स्मरण हो रहा है। इस प्रकार जब कुछ देर लगन लग जाती है, तब बाह्य विषयों के प्रति हमारे सामने बिलकुल अन्धकार और उस

"बैक ग्राउण्ड" यानी परदे के ऊपर हमारे इष्टदेव का रूप प्रकाशित होकर हमारे सामने आता है। इस प्रकार नाम जपते जपते रूप हमारे सामने प्रकट होता है। हमको सांसारिक अनुभव है कि जब हम अत्यन्त उत्सुक होकर एक ही रटन से लगन के साथ, किसी का नाम लेकर हृदय से पुकारते हैं, तब वह हमारा प्रेमी हमारे सामने आकर किसी न किसी रूप में उपस्थित हो जाता है, फिर भगवान् तो सर्वव्यापक है, वह हम से कहीं दूर नही। लेकिन हम आर्त्त होकर उसको पुकारते ही नही। इसलिए वह हमारे निकट होते हुए भी हम से बहुत दूर है। हम उससे प्रेम बढ़ावे और उसका नाम ले लेकर किसी रूप मे भी—किसी भी अपने इष्टदेव के रूप मे—उसको पुकारे, तो वह अवश्य तुरन्त हमारे सामने प्रकट होगा। सब रूप उसी के तो है। सब गुण उसी के तो है। सब नाम उसी अन्तर्यामी के है। वह हमारे सामने प्रकट होगा, तो जो कुछ चाहो, उससे माँग लो—

जपेन देवता नित्य स्तूयमाना प्रसीदति।
प्रसन्ना विपुलान्भोगान् दद्यान्मुक्तिं च शाश्वतीम्॥

नाम लेकर देवताओं को जब हम आर्त्त होकर उत्सुकता पूर्वक एकाग्रचित्त से एक ही रटन से लगन के साथ पुकारते तब इस जपयज्ञ से देवताओं की एक प्रकार से स्तुति हो जाती है, और उस स्तुति से वे प्रसन्न होते है। और प्रसन्न होकर वे देवता बहुत प्रकार के भोग—भोग ही क्या—शाश्वत अर्थात् कभी नाश न होने वाली मुक्ति तक दे देते है। मुक्ति और भुक्ति दोनों जप से सुलभ है।

जप से देवता तो प्रसन्न होते ही है इसके सिवाय और भी जितनी सांसारिक विघ्न बाधाएँ है, जप करने वाले भक्त के सामने नहीं आती—

यक्षराक्षसवैतालभूतप्रेतपिशाचकाः ।
जपाश्रयद्विज दृष्ट्वा दूरं ते यान्ति भीतितः ।।

यक्ष, राक्षस, वैताल, भूत-प्रेत, पिशाच इत्यादि जितनी विघ्न-कारक और बाधक शक्तियाँ हैं, सब जप का आश्रय लेने वाले भक्त को दूर से ही डर कर भागती हैं। जपी भक्त, चारों ओर से निर्भय होकर स्वानन्द-साम्राज्य का भोग करता है।

जप कितने प्रकार से किया जाता है ? एक जप साधारण होता है जिसमे हम साधारण तौर पर जिह्वा से आवाज निकालते हैं, और उसको हम स्वयं ही कानो से सुनते है, और किसी के कान तक नही जाता और दूसरे साधारण जप मे इतने जोर से हम आवाज निकालते है कि जिसको हम भी सुनते हैं, और दूसरे लोगों के कानों तक आवाज पहुँचती हैं। इसके बाद "उपाशु" जप होता है, जिसमे आवाज इतनी भी नही निकलती कि जिसे हम स्वयं सुन सके, दूसरे तो क्या सुन सकेंगे ! हाँ, इसमे सिर्फ जीभ और होठ भर हमारे हिलते हैं। फिर तीसरा मानस जप होता है, जिसमे आवाज तो क्या, हमारी जीभ और होठ भी नहीं हिलते। यह मन ही मन उच्चरित होता है। ये सभी जप अपेक्षाकृत एक दूसरे से श्रेष्ठ माने गये है। मनु जी कहते है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपाशुःस्याच्छतगुणः सहस्रो मानसः स्मृतः ।।

—मनु० २।८५

पञ्च महायज्ञ इत्यादि जितने विधियज्ञ हैं, जपयज्ञ उनसे दस गुना श्रेष्ठ है, परन्तु उपांशु जप उनसे सौगुना और मानस जप हजार गुना श्रेष्ठ है। ध्यान मे रहे कि किसी प्रकार का भी जप हो, हमारा मन नाम, मन्त्र और उसके अर्थ तथा गुणो मे ही

रहना चाहिए! अनन्य भाव से देवता मे हम को तल्लीन हो जाना चाहिए! तभी सिद्धि प्राप्त होगी।

सब मंत्रो मे गायत्री मंत्र का जप श्रेष्ठ है। क्योकि इसमे श्रवण ओंकार ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम, तीन व्याहृतियाँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की वाचक, और सावित्री ऋचा, जिसमे भगवान् के गुण, कर्म, स्वभाव का सर्वोत्तम संकेत है। यह मंत्र तीनों वेदों का स्वरूप है। मनुजी ने कहा है—

एतदक्षरमेता च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्योर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥

—मनु० २।७८

ओंकार और व्याहृतियों के सहित दोनो सन्ध्याओ मे गायत्री का वेदज्ञ ब्राह्मण को भी जप करना चाहिए। इससे सम्पूर्ण वेद का पुण्य मिल जाता है। अर्थात् सम्पूर्ण वेदों का पाठ एक तरफ और एकमात्र गायत्री मंत्र का अर्थपूर्वक जप एक तरफ।

फिर भगवान् के अनन्त नाम और रूप है, जिस पर जिसकी श्रद्धा हो, उसी का जप करके सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए। सब उसी मे जाकर मिलते हैं। श्रद्धा और भाव की आवश्यकता है।

———

कीर्तन-भक्ति

भगवान् की नौ प्रकार की भक्तियों मे कीर्तन एक बहुत ही मनोरंजक भक्ति है। भगवत्प्राप्ति के अनेक सुलभ और दुर्लभ साधन हैं, पर कीर्तन एक ऐसा साधन है कि जिसमे स्वाभाविक ही मन चारों ओर से खिंच कर एक भगवान् के गुणानुवाद मे आकर रम जाता है। भगवन्नाम का जब हम सीधा जोर जोर से उच्चारण करते है, तब वह आवाज हमारे चारों ओर गूँज जाती है; और उस भगवन्नाम के गर्जन के सामने संसार की सब आवाजें दब जाती हैं, भीतर के सब मनोविकार भी दूर भाग जाते है। यह अवस्था साधारण जोर जोर से नाम जप मे भी होती है, पर जब हम उसी नाम को एक विशेष राग, ताल और ध्वनि के साथ धीरे धीरे या जोर-जोर से गाते हैं, तब उसी जप को कीर्तन का स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

परन्तु कीर्तन का स्वरूप केवल इतना ही नही है, बल्कि इससे भी और बहुत अधिक व्यापक है। कीर्तन मे नाम संकीर्तन तो आता ही है परन्तु भगवान् के अनन्त नाम, अनन्त गुण और अनन्त कथायें हैं। उन सब का संगीत गान वाद्य के साथ—कथा-कीर्तन होता है। भगवद्भक्त श्रोता वक्ता सब एक होकर उस संकीर्तन मे तन्मय होकर बस सर्वत्र एक ही रूप मे राममय हो जाते हैं—भगवान् कृष्ण ने इसी कीर्तन भक्ति का इशारा करते हुये अपनी गीता मे कहा है—

> मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
> कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
>
> —गीता १०-९

मेरे भक्त मुझ मे ही अपना मन प्राण लगाये हुए मेरे गुणानुवाद गाते, समझाते रहते है, और उसी मे सन्तुष्ट, प्रसन्न और मग्न रहते हैं। अथवा—

सतत कीर्तयन्तो मा यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मा भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

—गीता ९-१४

भक्त लोग दृढ़व्रत होकर सदैव मेरा कीर्तन करते रहते हैं। सब प्राणियों मे एक मात्र मुझको ही देखकर बड़े उत्सव और उमंग के साथ मेरी सेवा और पूजा मे तत्पर रहते है। भक्ति से मुझको नमस्कार करते हुये सदैव मुझे अपने निकट पाते हैं।

जहॉ भक्त लोग एकान्त मे अथवा सर्वसाधारण जनता के साथ भगवत्कीर्तन करते है वहॉ का वायुमडल और पृथ्वी का एक एक कण इतना दिव्य और आनन्ददायक हो जाता है कि मनुष्य की सारी इन्द्रियॉ और मन एक परब्रह्म मे ही रासमय होती है, और सोई सुध-बुध नहीं रहती। क्यों न हो—भगवान् स्वयं कहते हैं—

नाहं वसामि वैकुंठे योगिना हृदये रवौ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

नारद ! हम वैकुण्ठ मे नही रहते और न योगियो के हृदय मे और न सूर्य मे—हम तो भाई जहॉ हमारे भक्त गाते हैं, वही रहते है। और भी—

गीत्वा तु मम नामानि नर्तयेन्मम सन्निध।
इदं ब्रवीमि ते सत्य क्रीतोऽहं तेन चार्जुन ॥

हे अर्जुन, जो भक्त मेरे अनन्त नामो का गान करते हुये, और सर्वत्र मेरे ही रूप को देखते हुये, मेरे सामने नृत्य करते हैं,

सच कहता हूँ—मैं तो भाई उनका गुलाम हूँ। कीर्तन करते हुए उनकी क्या हालत हो जाती है :—

> वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्त
> रुदत्यभीक्ष्ण हसति क्वचिच्च।
> विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
> मद्भक्तियुक्तो भुवन पुनाति ॥
>
> —श्रीमद्भागवत ११-१४-२४

कीर्तन करते हुए मेरा भक्त वाणी से गद्गद हो जाता है। उसका हृदय भर जाता है। वह भावुक कभी रोने लगता, कभी हँसने लगता है, कभी लज्जारहित होकर ऊँचे स्वर से गाने और नाचने लगता है। इस प्रकार मेरी भक्ति से मेरा भक्त सारे ससार को पवित्र करता है।

कीर्तन-भक्ति मे एक और भी विशेषता है। अपने साधारण गृहकार्य करते हुए भी हम भगवद्गुणों का गान कर सकते है। मन तो हमारा भगवद्गुण गान मे लगा हुआ है, और शरीर हमारा गृहकार्य मे लगा हुआ है। व्रजगोपियों के विषय मे श्री शुकदेव मुनि ने कहा है :—

> या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
> प्रेङ्खप्रेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
> गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
> धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः'।
>
> —श्रीमद्भागवत १०-४४-१५

इन व्रजाङ्गनाओं को धन्य है जो भगवान् में चित्त लगाये हुए गौएँ दुहती, धान कूटती, दही विलोती, आँगन लीपती, रोते बालकों को पालने पर झुलातीं, घर बुहारती हुई प्रेम मगन मन,

आँखों मे प्रेमाश्रु भरे, गद्गद वाणी से भगवान् का गुणगान करती रहती हैं।

भगवद्कीर्तन मे व्रजगोपिकाएँ हमारी गृहस्थ-देवियों के लिये मानो आदर्श स्वरूप है। हरिनाम-कीर्तन ऐसी पवित्र गंगा की धारा है जिसमे स्त्री-पुरुष सभी अवगाहन कर सकते है। इतना ही नही, बल्कि शूद्र, अन्त्यज और चाण्डाल भी भगवान् का नाम संकीर्तन कर ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ पदवी पा सकते हैं। भक्तमाल के रचयिता नाभा जी और रैदास भक्त इत्यादि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। कहा भी है—

अहो बत श्वपचतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

भगवान्! तुम्हारा नाम संकीर्तन जो करते रहते है, वे चाण्डाल भी हो, पर उन ब्राह्मणों से श्रेष्ठ है, जो तुम्हारे भक्त नहीं—फिर उन ब्राह्मणो का क्या कहना जो तुम्हारा नाम लेते रहते है। वे तो तुम्हारा नाम लेने मात्र से ही मानो सब प्रकार के जप, तप, यज्ञ, दान, स्नान, वेदपाठ इत्यादि कर चुके। भगवन्!

तव कथाऽमृत तप्तजीवन
कविभिरीडित कल्मपापहम्।
श्रवणमगल श्रीमदातत
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥
—श्रीमद्भागवत १०-३१-६

तुम्हारी कथा, जिसे ब्रह्मादि कवियों ने वार-बार गाया है, संसारिक पापतापो से संतप्त प्राणियो के लिये जीवनदायिनी

अमृततुल्य है। दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों तापों को शीतल करनेवाली आपकी वह श्रवणसुखद कथा बहुत सुन्दर और सब जगह व्याप्त है। इस पृथ्वी पर जो सज्जन भक्तवृन्द उसको गाते हैं उनसे लोगों की सब कामनाएँ सिद्ध होती हैं।

भगवान् की ऐसी ही सुमधुर कथा के लिए आर्त होकर एक जिज्ञासु भक्त कहता है :—

नयन जलदश्रु धारया वदन गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचित वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति।

भगवन्! वह समय कब आयेगा जब तुम्हारा नाम संकीर्तन करते हुये मेरे नयनों से अश्रुधारा बहेगी, वाणी गद्गद कंठ होकर निकलेगी, और मेरा सारा शरीर रोमांच-पुलक हो जायगा।

परिवदतु जननी यथा तथा वा
-ननु मुखरो न वय विचारयामः।
हरिरसमदिरामदातिमत्ता
भुवि विलुठाम नटाम निर्विशामः॥

वाचाल लोग इधर उधर की चाहे जो कहा करे, हम उस पर ध्यान न देंगे, हम तो बस भगवत्प्रेम-मदिरा के मद मे मतवाले होकर नाचेंगे, नाचते नाचते पृथ्वी पर लोटने लगेंगे और उसी मे मगन हो जायेंगे।

———

दाम्पत्य धर्म

जाया (स्त्री) और पति दोनों मिलकर दम्पति कहलाते हैं। एक दूसरे के प्रति दोनों के कुछ कर्त्तव्य शास्त्रों मे कहे गये हैं उसी को दाम्पत्य धर्म कहते हैं, जिस पर चलने से संसार सुखी हो सकता है। अस्तु।

पहले हमको स्त्री जाति की महत्ता पर विचार करना चाहिये। कहते हैं कि पहले पारब्रह्म मे यही स्फूर्ति हुई कि "हम एक हैं, उससे बहुत हों"। पहले भगवान् एक अकेले थे, उनको ऐसी इच्छा हुई कि अब हम एक से बहुत हो, तब उन्होने माया का सिरजन किया। स्त्री क्या है—माया रूप है। माया यदि नहीं होती, तो पारब्रह्म के अस्तित्व का कुछ भी भान हमको न होता। वह अकेला चाहे जहाँ बना रहता। अतएव माया ही वह शक्ति है जिसके द्वारा हमको पारब्रह्म का ज्ञान होता है। और इसी की शक्ति से सारे ब्रह्माण्ड की रचना होती, सिरजन, पालन, और संहार होता है। हमारे घरो मे स्त्री का यही दर्जा है। स्त्री ही की शक्ति पाकर हम अपने सारे सासारिक कर्त्तव्यों मे सफलता प्राप्त कर सकते है। इस मातृशक्ति का यदि हम आशीर्वाद न ले, तो, सोचना चाहिये हमारी क्या हालत हो।

स्त्री का इतना महत्त्व है; पर आज हम इस विषय मे कितने लापरवाह है। इस शक्ति को हमने कहाँ का कहाँ ले जाकर गिरा दिया है। कन्याओं के लालन-पालन, उनके शिक्षण-रक्षण और उनके वैवाहिक सम्बन्ध का हमारी वर्तमान और भावी सन्तान पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, इस पर क्या कभी भी हम विचार करते हैं ? शास्त्र कहता है—

कुमारीं शिक्षयेद् विद्या धर्मनीतौ निवेशयेत् ।
द्वयोः कल्याणदा प्रोक्ता या विद्यामधिगच्छति ॥

कुमारियों को विद्याभ्यास कराकर उनको नीति और धर्म मे निपुण करना चाहिये, क्योंकि जो कन्याएँ विदुषी ब्रह्मचारिणी होंगी, उन्ही से दोनों कुलो का कल्याण होगा। परन्तु हम कन्याओं को छोटी उम्र मे विवाह करके उनको गृहस्थी के भाड़ मे झोंक देते है। यह मातृशक्ति का भयंकर अपमान है। छोटी उम्र मे पति के घर जाने से प्रायः रजस्वला होने के पहले ही घरों में पति-पत्नी सम्बन्ध शुरू हो जाता है। कन्या को जब तक रजोधर्म न हो, उसको "जाया" या पत्नी बनने का कहाँ अधिकार है। कन्या के माता-पिता इस विषय मे कुछ भी विचार नहीं करते। हेमाद्रि ऋषि कहते है :—

अज्ञातपतिमर्यादामज्ञातपतिसेवनाम् ।
नाद्वाहयेत्पिता बालामज्ञाता धर्मशासनाम् ॥

जिसे पतिमर्यादा, पतिसेवा और धर्मशासन का ज्ञान नही ऐसी, बेचारी अबोध कन्याओं का विवाह माता को कभी न करना चाहिये। मनु महाराज तो साफ ही कहते है :—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वन्तु कालादेतस्मात् विन्देत सदृश पतिम् ॥

कन्या ऋतुमती, अर्थात् रजस्वला हो जाने पर भी तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई कुमारी यानी अविवाहिता बनी रहे। इसके बाद, रज परिपक्व हो जाने पर अपने सदृश ब्रह्मचारी पति को प्राप्त करे। रज और वीर्य के पूर्ण परिपक्व होने के पहले ही स्त्री-प्रसङ्ग होने से दाम्पत्य धर्म मे क्या दुर्दशा होती है, इसके विषय मे महर्षि सुश्रुत कहते है :—

दाम्पत्य धर्म

जाया (स्त्री) और पति दोनों मिलकर दम्पति कहलाते हैं। एक दूसरे के प्रति दोनों के कुछ कर्त्तव्य शास्त्रों मे कहे गये हैं उसी को दाम्पत्य धर्म कहते हैं, जिस पर चलने से संसार सुखी हो सकता है। अस्तु।

पहले हमको स्त्री जाति की महत्ता पर विचार करना चाहिये। कहते है कि पहले पारब्रह्म मे यही स्फूर्ति हुई कि "हम एक है, उससे बहुत हों"। पहले भगवान् एक अकेले थे, उनको ऐसी इच्छा हुई कि अब हम एक से वहुत हो, तब उन्होने माया का सिरजन किया। स्त्री क्या है—माया रूप है। माया यदि नहीं होती, तो पारब्रह्म के अस्तित्व का कुछ भी भान हमको न होता। वह अकेला चाहे जहाँ वना रहता। अतएव माया ही वह शक्ति है जिसके द्वारा हमको पारब्रह्म का ज्ञान होता है। और इसी की शक्ति से सारे ब्रह्माण्ड की रचना होती, सिरजन, पालन, और संहार होता है। हमारे घरो मे स्त्री का यही दर्जा है। स्त्री ही की शक्ति पाकर हम अपने सारे सासारिक कर्त्तव्यों मे सफलता प्राप्त कर सकते है। इस मातृशक्ति का यदि हम आशीर्वाद न ले, तो, सोचना चाहिये हमारी क्या हालत हो।

स्त्री का इतना महत्त्व है; पर आज हम इस विषय मे कितने लापरवाह हैं। इस शक्ति को हमने कहाँ का कहाँ ले जाकर गिरा दिया है। कन्याओं के लालन-पालन, उनके शिक्षण-रक्षण और उनके वैवाहिक सम्बन्ध का हमारी वर्तमान और भावी सन्तान पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, इस पर क्या कभी भी हम विचार करते हैं? शास्त्र कहता है—

कुमारीं शिक्षयेद् विद्या धर्मनीतौ निवेशयेत्।
द्वयोः कल्याणदा प्रोक्ता या विद्यामधिगच्छति ॥

कुमारियों को विद्याभ्यास कराकर उनको नीति और धर्म मे निपुण करना चाहिये, क्योंकि जो कन्याएँ विदुषी ब्रह्मचारिणी होगी, उन्ही से दोनो कुलो का कल्याण होगा। परन्तु हम कन्याओ को छोटी उम्र मे विवाह करके उनको गृहस्थी के भाड़ मे झोक देते है। यह मातृशक्ति का भयंकर अपमान है। छोटी उम्र मे पति के घर जाने से प्रायः रजस्वला होने के पहले ही घरों मे पति-पत्नी सम्बन्ध शुरू हो जाता है। कन्या को जब तक रजोधर्म न हो, उसको "जाया" या पत्नी बनने का कहाँ अधिकार है। कन्या के माता-पिता इस विषय मे कुछ भी विचार नहीं करते। हेमाद्रि ऋषि कहते है :—

अज्ञातपतिमर्यादामज्ञातपतिसेवनाम्।
नोद्वाहयेत्पिता बालामज्ञाता धर्मशासनाम् ॥

जिसे पतिमर्यादा, पतिसेवा और धर्मशासन का ज्ञान नही ऐसी, बेचारी अबोध कन्याओं का विवाह माता को कभी न करना चाहिये। मनु महाराज तो साफ ही कहते है :—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वन्तु कालादेतस्मात् विन्देत सदृशं पतिम् ॥

कन्या ऋतुमती, अर्थात् रजस्वला हो जाने पर भी तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई कुमारी यानी अविवाहिता बनी रहे। इसके बाद, रज परिपक्व हो जाने पर अपने सदृश ब्रह्मचारी पति को प्राप्त करे। रज और वीर्य के पूर्ण परिपक्व होने के पहले ही स्त्री-प्रसङ्ग होने से दाम्पत्य धर्म मे क्या दुर्दशा होती है, इसके विषय मे महर्षि सुश्रुत कहते है :—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विलीयते ॥
जातो वा न चिरंजीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥

पच्चीस वर्ष से कम उम्रवाला पुरुष यदि सोलह वर्ष से कम अवस्था वाली स्त्री मे गर्भ धारण करता है, तो वह गर्भ पेट में ही निरापद नहीं रहता। गर्भपात इत्यादि उपद्रव खड़े होते हैं, और यदि किसी प्रकार गर्भ पेट मे सध भी जाता है और बच्चा भी किसी प्रकार उत्पन्न हो जाता है, तो वह अधिक दिन तक जीवित नही रहता, और यदि जीवित भी रह जाता है तो हमेशा रोगी, निर्बल, माता-पिता और पृथ्वी के लिये भाररूप होकर जीता है। इसलिये बहुत बचपन से स्त्रीप्रसङ्ग अथवा गर्भाधान न करना चाहिये।

यह तो विवाह और स्त्रीसमागम की वयोमर्यादा हुई। अब यह देखना चाहिये कि सन्तानार्थी स्त्री-पुरुषो को महीने मे किस प्रकार, कितनी बार, समागम करना चाहिये। मनुजी कहते हैं :—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥

मनु० ३-४५

सदा अपनी ही स्त्री से सन्तुष्ट रह कर ऋतुकाल मे ही स्त्री-समागम करना चाहिये। रति की कामना हो, तो पर्व दिनों को छोड़कर अन्य दिनों मे भी स्त्री के पास जा सकते है। ऋतुकाल का प्रमाण क्या है :—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडशस्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥

रजोदर्शन के दिन से लेकर सोलह रात्रियो तक स्त्री का स्वाभाविक ऋतुकाल माना गया है। इसमे प्रथम चार दिन भी शामिल है, जिनको भले आदमी सदैव बचाते हैं। इसके सिवाय और भी विवेक है :—

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशा च शेषास्तु प्रशस्ता दशरात्रयः ।।

सोलह रात्रियो मे से उपर्युक्त चार रात्रियों के अलावा ग्यारहवी और तेरहवी रात्रि भी निन्दित कही गई है। शेष दस रात्रियाँ ठीक हैं।

लेकिन दस रात्रियो मे भी यह आवश्यक नही कि सभी रात्रियो मे गमन किया जाय। उसमे भी पुत्र चाहने वाले को सम, अर्थात् छठी, आठवी, दसवीं, बारहवी, चौदहवी और सोलहवी विहित है। उसमे भी चौदहवीं और सोलहवीं या फिर सोलहवी सब से अच्छी है। कन्या के इच्छुको को विषम, यानी पाँचवी, सातवी, इत्यादि रात्रियों का ग्रहण करना चाहिए। इसमे भी उत्तरोत्तर रात्रियों को ही उत्तम माना गया है। फिर इसमे भी यदि पुरुष का वीर्य प्रबल हुआ तो विषम रात्रि मे भी पुत्र और स्त्री का रज प्रबल हुआ तो सम रात्रि मे भी कन्या हो सकती है। दोनों का रज वीर्य तुल्य होने से नपुंसक अथवा लडका लडकी जोड़ियाँ उत्पन्न होती हैं। रजवीर्य के कमज़ोर या दूषित होने पर गर्भ ही नही ठहरता, अथवा ठहरता है, तो टिकता नहीं इत्यादि अनेक बातों का महर्षि मनु ने अपनी स्मृति मे विचार किया है।

साराश यह है कि गृहस्थ के लिए—जो कि विशुद्ध सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही दाम्पत्य धर्म की धारणा करता है सम्भोग के कुछ नियम निर्धारित कर दिये गये हैं। महीने भर

मे वे कुछ ही दिन हैं, जिनमे स्त्री पुरुष को गमन करना चाहिए। इन नियमों का यदि पालन किया जाय, तो हमारी भावी सन्तान शूरवीर और विद्वान् सदाचारी उत्पन्न होगी। एक जगह मनुजी ने सम्भोग की इस कालमर्यादा को और भी अधिक संकुचित कर दिया है, और उस नियम का यदि पालन किया जाय, तो 'गृहस्थ' को 'ब्रह्मचारी' का पद मिल जाता है। इस नियम मे महीने भर मे सिर्फ दो रात्रियो मे ही स्त्री-समागम का विधान किया गया है :—

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥

छै रात्रियाँ जो वर्ज्य हैं, उनका जिक्र ऊपर हो चुका है। उनके अलावा आठ रात्रियाँ और भी छोड़ देनी चाहिए—वे आठ रात्रियाँ कौन है? दोनों पक्षो की एकादशी, दोनों पक्षों की अष्टमी, दोनों पक्षो की चतुर्दशी और अमावस्या तथा पूर्णिमा। इस प्रकार कुल चौदह रात्रियाँ ऋतुकाल मे भी सम्भोग के लिए छोड़ने का विधान है। सिर्फ दो रात्रियाँ रह जाती है। दो मे से भी अगर एक ही सिर्फ रखे—यानी सिर्फ सोलहवीं रात्रि को ही—महीने भर मे सिर्फ एक बार स्त्री-समागम करे; और परस्त्री को सदैव बचाये रहे—तो वह गृहस्थ जगत्‌वन्द्य ब्रह्मचारी हो सकता है। जो कुछ इच्छा करे, वही उसको सिद्धि प्राप्त हो सकती है। स्त्री भी वही सती-साध्वी पतिव्रता कहला सकती है, जो महीने मे सिर्फ एक बार पति-समागम करे, और परपुरुष का स्वप्न मे भी ध्यान न करे। शूरवीर और अपने कुल को उजियाला करने वाला पुत्र उसी साध्वी को प्राप्त हो सकता है। कहावत है कि जङ्गल का राजा सिंह जीवन भर मे सिर्फ एक बार अपनी धर्मपत्नी सिंहनी से सहवास करता है, और

गर्भधारण हो जाता है, और जब सिंह का बच्चा अपनी माँ के पेट से पैदा होता है, तब सिंहनी का पेट फट जाता है, और वह मर जाती है। इसके बाद सिंहराज उस विधुरावस्था मे भी ब्रह्मचारी अक्षतवीर्य रहता है। इसलिए सिंह सब पशुओं मे श्रेष्ठ प्रबल, और जङ्गल मे निर्भय राज्य करता है। हमारी मातायें क्या ऐसी ही सन्तान उत्पन्न करने का प्रयत्न न करेंगी ?

उत्तम सन्तान उत्पन्न हो और गृहस्थी मे शान्ति और सुख का साम्राज्य हो, इसके लिये आवश्यक यह है कि पति-पत्नी दोनों एक दूसरे से प्रसन्न रहे, क्योंकि—

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमास न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात्पुन पु स प्रजन न प्रवर्तते ॥
स्त्रिया तु रोचमानाया सर्व तद्रोचते कुलम् ।
तस्या त्वरोचमानाया सर्वमेव न रोचते ॥

यदि स्त्री शोभना और प्रसन्नचित्त तथा प्रसन्नवदन न रहेगी तो वह अपने पति को प्रसन्न न कर सकेगी, और जब पति ही प्रसन्न न रहेगा तो सन्तान न होगी, और यदि होगी भी तो ठीक न होगी। परन्तु पति कब प्रसन्न रह सकता है, और घर के तमाम स्त्री, पुरुष और बच्चे कब प्रसन्न रह सकते हैं—जब स्त्रियाँ प्रसन्न रहे, क्योंकि उनको यदि प्रसन्न न रखा गया तो अप्रसन्न होकर, दिन रात दुखी रह कर, घर को कोसती रहती है, वह घर उजाड़ हो जाता है, जैसे चुड़ैलों की बस्ती। इसलिए—

तस्मादेता· सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥

इसलिए यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारा घर धन-धान्य और सन्तान-रत्नों से भरा पूरा रहे तो इन गृहदेवियों की सदा पूजा करते रहो। उनको सुन्दर सुन्दर वस्त्र, आभूषण और भोजन इत्यादि से उनका आदर सत्कार सदैव करते रहो और जब कोई तिथि, पर्व, उत्सव अथवा शादी-व्याह इत्यादि घर मे कोई संस्कार या कामकाज पड़े तब इनको विशेष रूप से प्रसन्न करते रहो।

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥

—मनु० ९-२६

ये स्त्रियाँ भाग्यशालिनी, पूजनीय, घर मे उजाला करने वाली घर की शोभा है, सन्तान उत्पन्न करने के अतिरिक्त कामवासना अथवा घर के कामकाज मे ही उनको केवल दासी के रूप मे न समझो बल्कि ये घर की लक्ष्मी है। लक्ष्मी इनके अतिरिक्त और कही नहीं हैं।

स्त्रियाँ केवल इसीलिए पूज्य नही है कि वे सन्तान देती हैं, अथवा गृह की लक्ष्मी हैं, बल्कि इसलिए भी पूज्य हैं कि वे अपने पति के लिए भी मातृस्वरूप है—

पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥

—मनु० ९-८

पति स्वयं वीर्य रूप से पत्नी के पेट मे प्रविष्ट होकर और फिर गर्भ बनकर सन्तान रूप मे प्रसव होता है, पति अपनी धर्मपत्नी के ही पेट से फिर दुबारा सन्तान रूप मे जन्म लेता है, इसी लिए तो पत्नी को "जाया" कहते हैं। "जाया" और "पति" ये

ाब्द मिलकर ही "दम्पति" शब्द बना है। दोनो एक रूप इससे यह भी सिद्ध होता है कि सन्तान उत्पन्न करने के ारिक्त, स्त्री को काम-साधन का एक यंत्रमात्र न समझकर । मातृरूप से उसका आदर-सत्कार करते रहना चाहिए। ुः इतना होते हुए भी स्त्रियों का स्वभाव बहुत चञ्चल होता ;सलिए—

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः सस्थाप्या आत्मने वशे ॥

पुरुषो को चाहिए कि अपनी स्त्रियों को दिन रात अस्वतन्त्र । वे सब प्रकार से सन्तुष्ट सुखी और विलास से युक्त हो, ी अपने वश मे उनको मजबूती से रखे। परन्तु स्त्रियाँ इतनी ल होती हैं कि अगर वे स्वयं अपने को वश मे न रख सकीं ाायद विधाता भी उनको वश में नही रख सकता—मनुष्य ो क्या कथा! इसलिये मनु जी ने बतलाया है कि गृहस्थ । उनको इस प्रकार के कार्यों मे लगाये रखें :—

अर्थस्य सग्रहे चैना व्यये चैता नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्या च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥

जो स्त्रियाँ अधिक चञ्चल हों उनको गृहस्थी के काम मे इतना ाए रहे कि उन्हे दम मारने की फुरसत न मिलने पावे। से उनका चञ्चल चित्त बाधक न होगा। उनके पास पैसा- ा धरने उठाने का काम देवे, आमदनी और खर्च का ाव तथा व्यय करने का अधिकार भी उनके हाथ मे दे देवे। की सफाई, कपड़ों की सफाई और बालबच्चो तथा अन्य स्त्रियों को नहलाने-धुलाने अन्य धार्मिक तथा परोपकार ों, रसोई बनाने तथा उसका प्रबन्ध करने, घर की सब ामी इत्यादि को सजाने तथा उसकी देखभाल करने इत्यादि

कार्यों मे सदैव उनको फँसाये रहे। ये ऐसे काम हैं कि स्त्रियों का चञ्चल मन भी स्वाभाविक ही, प्रेमवश, इन कामों मे लग जाता है और सिवाय अपने पति की सेवा के, उनका ध्यान अन्यत्र और कहीं नही जाने पाता।

पतिव्रता स्त्रियो के लिये एक पति को छोड़कर अन्य कोई साधन नहीं है, क्योकि विवाह का अर्थ ही यही है :—

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययन यज्ञश्चासा प्रजापतेः।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदान स्वाम्यकारणम्॥

विवाह मे वर-कन्या के कल्याण के लिए जो स्वस्तिवाचन और प्राजापत्य यज्ञ होता है, उसका अर्थ यही है कि देव, ब्राह्मण और अग्नि को साक्षी कर के कन्या उस वर को दे दी जाती है अतएव कन्या का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि यावज्जीवन वह अपने पति की ही होकर रहे और पति का भी यह धर्म हो जाता है कि वह एक पत्निव्रत का आजीवन पालन करे।

दाम्पत्यधर्म का यह मुख्य अभिप्राय यहाँ पर बतलाया गया।